सरलताके साथ सनातनजीने कहा—'प्रभो ! समुद्रतटके रास्तेसे ही आया हूँ।'

प्रभुने उनके पैरोंके छालोंको देखते हुए कहा—'देखो, नंगे पैरों तप्त बालूमें आनेसे तुम्हारे पैरोंमें छाले पड़ गये। तुम सिंहद्वारके रास्तेसे होकर क्यों नहीं आये ?'

सनातनजीने दीनताके साथ कहा—'प्रभो ! सिंहद्वार होकर श्री-जगन्नाथजीके सेवक तथा दर्शनार्थी आते-जाते रहते हैं, उनसे कहीं भूलमें स्पर्श हो जाय तो मैं ही पापका भागी बनूँगा। इसी भयसे मैं सिंहद्वार होकर नहीं आया।'

प्रभु इनकी ऐसी मर्यादा, दीनता और सरलताको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उनका जोरोंसे गाढ़ालिङ्गन करते हुए कहने लगे—'सनातन ! तुम धन्य हो, तुम्हीं वैष्णवताके सच्चे रहस्यको समझे हो। यद्यपि तुम्हारे लिये स्वयं कोई विधि-निषेध नहीं है, फिर भी तुम लोकमर्यादाके निमित्त ऐसा व्यवहार करते हो, यह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले फिर भी उसे मर्यादाका उल्लङ्घन न करना चाहिये। क्योंकि मर्यादा भङ्ग करनेसे लोकनिन्दा होती है और लोकनिन्दासे सदा पतनका भय बना रहता है।' सनातनके आलिङ्गनसे प्रभुके सुवर्णके समान सुन्दर शरीरमें कई जगह पीब लग गया, इससे सनातनजीको अपार दुःख हुआ, वे सोचने लगे—'क्या करूँ, प्रभु तो मेरा आलिङ्गन बिना किये मानते ही नहीं ! इसलिये अब इस भयङ्कर शरीरको रखकर क्या करूँगा। प्रभुके दर्शन तो हो ही गये। रथयात्राके दिन जगन्नाथजीके दर्शन और करके उन्हींके रथके नीचे पिचकर मर जाऊँगा।'

महाप्रभु इनके मनोभावको समझ गये। वे एक दिन भक्तोंके सहित आकर सनातनजीसे बातें करने लगे। उन्होंने बातों-ही-बातोंमें कहा—

'सनातन ! शरीर त्यागनेसे तुमने क्या लाभ सोचा है ? मनुष्यका अन्तिम पुरुषार्थ प्रभुप्राप्ति है, यदि शरीर त्यागनेसे प्रभुप्राप्ति हो सके, तो मैं तो हजारों बार शरीर धारण करके उन्हें त्यागनेको तैयार हूँ। इस प्रकार शरीर त्यागना तामसी प्रकृति है। जो संसारी तापोंसे खिन्न होकर किसी कारणसे शरीरसे ऊबकर प्राण त्याग देते हैं, उनकी सद्गति नहीं होती। उन्हें फिर कर्मोंके भोगके निमित्त आसुरी प्रकृतिके शरीर धारण करने होते हैं। शरीरका सदुपयोग श्रीकृष्णसंकीर्तन करनेमें ही है। यदि भगवन्नाम-चिन्तन और स्मरण बना रहता है तो फिर शरीर कैसी भी दशामें रहे, विवेकी पुरुषको शरीरकी कुछ भी परवा न करनी चाहिये।'

प्रभुकी बात सुनकर नीचा सिर किये हुए सनातनजीने कहा—'प्रभो ! इस बेकार और अपवित्र शरीरको रखवाकर आप इससे क्या कराना चाहते हैं ? इससे तो अब दूसरोंको दुःखके सिवा किसी प्रकारका लाभ नहीं पहुँचता।'

प्रभुने कहा—'तुम्हें हानि-लाभसे क्या ? तुम तो अपने शरीरको मुझे सौंप चुके। दान की हुई वस्तुको लौटाकर कोई उसका मनमाना उपयोग कर सकता है ? तुम्हारे जाने मैं इसका कुछ भी उपयोग करूँ, तुम्हें इसे नष्ट करनेका अधिकार नहीं है। इससे मुझे बड़े-बड़े काम कराने हैं।'

सनातनजीने धीरेसे कहा—'प्रभो ! आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति ही किसमें है ? जैसी आप आज्ञा करेंगे, वही मैं करूँगा।'

इस प्रकार सनातनजीको समझा-बुझाकर प्रभु भक्तोंके सहित स्नानके लिये चले गये।

सनातनजीने आत्मघातका विचार तो परित्याग कर दिया, किन्तु प्रभुके आलिङ्गन करनेके कारण उन्हें सदा संकोच बना रहता। वे

सदा प्रभुसे बचे ही रहते किन्तु प्रभु उन्हें खोजकर आलिङ्गन करते। इससे वे सदा व्यथित-से बने रहते। एक दिन उन्होंने अपनी मनोव्यथा पुरीमें ही प्रभुके समीप निवास करनेवाले जगदानन्द पण्डितसे कही। जगदानन्दजीने कहा—'आपका पुरीमें ही रहना ठीक नहीं है। आषाढ़में रथयात्राके दर्शन करके यहाँसे सीधे वृन्दावन चले जाइये। आपके लिये प्रभुने वही देश दिया है, उस प्रभुदत्त देशमें जाकर भगवन्नाम-जप करते हुए समय व्यतीत कीजिये।'

सनातनजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'पण्डितजी! आपने यह बड़ी ही उत्तम सम्मति दी। आषाढ़के पश्चात् मैं यहाँसे अवश्य ही चला जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके वे रथयात्राकी प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन बातों-ही-बातोंमें उन्होंने प्रभुसे कहा—'प्रभो! मुझे पण्डित जगदानन्दजीने बड़ी सुन्दर सम्मति दी है। रथयात्रा करके मैं वृन्दावन चला जाऊँगा और वहीं रहूँगा।' प्रभु जगदानन्दजीके ऐसे भावको समझकर उनके ऊपर प्रेमका क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—'जगदानन्द अपनेको अब बड़ा भारी पण्डित समझने लगा, जो सनातनजीको भी शिक्षा देने लगा। हमें शिक्षा दे तो ठीक भी है, सनातनजी तो अभी इसे सैकड़ों वर्षोंतक पढ़ा सकते हैं। मूर्ख कहींका, कलका छोकड़ा होकर इतने बड़े लोगोंको सम्मति देने चला है।'

इस बातको सुनकर जगदानन्दजी तो सन्न पड़ गये, काटो तो शरीरमें रक्त नहीं! वे डबडबायी आँखोंसे पृथ्वीकी ओर देखने लगे। तब सनातनजीने अत्यन्त ही विनम्र भावसे प्रभुके पैर पकड़े हुए कहा—'प्रभो! जगदानन्दजीने तो मेरे हितकी ही बात कही है। आप मुझ पतितको स्पर्श करते हैं, इस बातसे किसे दुःख न होगा! मैं स्वयं संकुचित बना रहता हूँ।'

प्रभुने फिर उसी स्वरमें कहा—'इसे मेरे शरीरकी इतनी चिन्ता क्यों ! यह शरीरको ही सब कुछ समझता है। इसे वैष्णवोंके माहात्म्यका पता नहीं। सनातनजीके शरीरको यह अन्य साधारण लोगोंके शरीरके समान समझता है। इसे पता नहीं, सनातनजीका शरीर चिन्मय है। उसे खुजली और कुष्ठ कहाँ ! यह तो उन्होंने मेरे प्रेमकी परीक्षाके निमित्त अपने शरीरमें उत्पन्न कर ली है कि मैं घृणा करके इनके शरीरको स्पर्श न करूँ। कोई भाग्यवान् पुरुष सनातनजीके शरीरको सूँघे तो सही, उसमेंसे दिव्य सुगन्ध निकलती रहती है। मैं कुछ सनातनजीके ऊपर कृपा करनेके निमित्त उनका आलिङ्गन थोड़े ही करता हूँ, मैं तो उनके शरीर-स्पर्शसे अपने देहको पावन बनाता हूँ।'

प्रभुके मुखसे अपनी इतनी भारी प्रशंसा सुनकर सनातनजी रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो ! मैंने ऐसा कौन-सा घोर अपराध किया है, मेरे किन जन्मोंके अनन्त पाप आज आकर उदय हुए हैं, जो आप मुझे यह प्रशंसारूपी हलाहल विष पिला रहे हैं। जगदानन्दजीका आज भाग्य उदय हुआ। आज त्रिलोकीमें इनसे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा, जिनकी वात्सल्यस्नेहसे पुत्रकी भाँति प्रभु भर्त्सना कर रहे हैं। हाय, ऐसी प्रेममयी भर्त्सना जिनके भाग्यमें बदा है, वे महानुभाव धन्य हैं ! गुरुजन जिनकी नित्य आलोचना करते रहते हैं, वे परम सौभाग्यशाली पुरुष हैं। हे करुणाके सागर प्रभो ! इस अधमको किस अपराधसे अपनेपनसे पृथक् करके आपने यह प्रशंसारूपी सर्पिणी बलपूर्वक मेरे गलेसे लपेट दी। नाथ ! मैं अब अधिक सहन न कर सकूँगा।'

सनातनजीकी ऐसी कातर वाणी सुनकर प्रभु कुछ लज्जित-से हो गये और अत्यन्त ही प्रेमके स्वरमें जगदानन्दजीकी ओर देखकर कहने लगे—'जगदानन्दने मेरे शरीरके स्नेहसे और तुम्हारे आग्रहसे ही

ऐसी सम्मति दे दी होगी। मैंने अपने क्रोधके आवेशमें ऐसी बातें इनके लिये कह दीं। इसका कारण मेरा तुम्हारे ऊपर सहज स्नेह ही है॥ तुम इस वर्ष यहीं मेरे पास ही रहो, अगले वर्ष वृन्दावन जाना।" इतना कहकर प्रभुने सनातनजीका फिर जोरोंसे आलिङ्गन किया। बस, फिर क्या था! न जाने वह खुजली और उसकी पीड़ा कहाँ चली गयी!! उसी समय उनकी खाज अच्छी हो गयी और दो-चार दिनमें उनके घाव अच्छे होकर उनका शरीर सुवर्णके समान कान्ति-वाला बन गया।

रथयात्राके समय अद्वैताचार्य, नित्यानन्द आदि सभी गौड़ीय भक्त प्रतिवर्षकी भाँति अपने स्त्री-बच्चोंके सहित पुरीमें आये। प्रभुने उन सबसे सनातनजीका परिचय कराया। सनातनजी प्रभुके परम कृपापात्र इन सभी प्रेमी भक्तोंका परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने सभीकी चरणवन्दना की। सभीने सनातनजीकी श्रद्धा, दीनता और तितिक्षाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। बरसातके चार महीने रहकर सभी भक्त देशके लिये लौट गये, किन्तु सनातनजी वहीं रह गये। वे दूसरे वर्ष प्रभुसे विदा होकर और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके पुरीसे सीधे ही काशी होते हुए वृन्दावन पहुँचे। पुरीसे चलते समय वे बलभद्र भट्टाचार्यसे उस रास्तेके सभी स्थानोंके नाम लिख ले गये थे, जिस रास्तेसे प्रभु वृन्दावन गये थे उन सभी स्थानोंका दर्शन करते हुए और प्रभुकी लीलाओंका स्मरण करते हुए उसी रास्तेसे सनातनजी वृन्दावनतक पहुँचे। तबतक रूपजी वृन्दावनमें नहीं पहुँचे थे। सनातनजी वहीं वृन्दावनके वृक्षोंके नीचे अपना समय बिताने लगे। कुछ दिनोंके अनन्तर गौड़ देशसे श्रीरूपजी भी वृन्दावन पहुँच गये और दोनों भाई साथ ही श्रीकृष्णकथाकीर्तन करते हुए कालयापन करने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका गृहत्याग

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥*
(श्रीमद्भा० ५। ५। १९)

सप्तग्रामके भूम्यधिकारी श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके पुत्र श्रीरघुनाथदासजीको पाठक भूले न होंगे। शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यजीके घरपर ठहरे हुए प्रभुके उन्होंने दर्शन किये थे और प्रभुने उन्हें मर्कट-वैराग्य त्यागकर घरमें ही रहते हुए भगवत्-भजन करनेका उपदेश दिया था और उनके गृहत्यागके अत्यन्त आग्रह करनेपर प्रभुने कह दिया था—'अच्छा देखा जायगा। अब तो तुम घर चले जाओ, हम शीघ्र ही वृन्दावनको जायँगे, वहाँसे लौटकर जब हम आ जायँ, तब जैसा उचित हो वैसा करना।'

अब जब रघुनाथजीने सुना कि प्रभु व्रजमण्डलकी यात्रा करके पुरी लौट आये हैं, तब तो वे चैतन्यचरणोंके दर्शनोंके लिये अत्यन्त ही लालायित हो उठे। उनका मनमधुप प्रभुके पादपद्मोंका मकरन्द पान करनेके निमित्त पागल-सा हो गया, वे गौराङ्गका चिन्तन करते हुए ही

---

* मृत्युके पाशसे बँधे हुए पुरुषको जो संसारबन्धनसे छुड़ानेमें समर्थ नहीं होता वह अक्षर पढ़ानेपर भी वास्तविक गुरु नहीं है, कुटुम्बमें उत्पन्न होनेपर भी स्वजन नहीं है, वीर्यसे उत्पन्न करनेवाला होनेपर भी सच्चा पिता नहीं है, शरीरको पैदा करनेवाली होनेपर भी वह वास्तविक माता नहीं है, माननीय होनेपर भी वह यथार्थ दैव नहीं है और पाणिग्रहण करनेपर भी वह सच्चा पति नहीं है।

समयको व्यतीत करने लगे। ऊपरसे तो सभी संसारी कामोंको करते रहते, किन्तु भीतर उनके हृदयमें चैतन्यविरहजनित अग्नि जलती रहती। वे उसी समय सब कुछ छोड़-छाड़कर चैतन्यचरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते, किन्तु उस समय उनके परिवारमें एक विचित्र घटना हो गयी।

सप्तग्रामका ठेका पहले एक मुसलमान भूम्यधिकारीपर था। वही उस मण्डलका चौधरी था, उसीसे ही इन्हें इस इलाकेका अधिकार प्राप्त हुआ था। वह प्रतिवर्ष आमदनीका चतुर्थांश अपने पास रखकर तीन अंश बादशाहके दरबारमें जमा करता था। उस मण्डलकी समस्त आमदनी बीस लाख रुपये सालानाकी थी। हिसाबसे इन मजूमदार भाइयोंको पन्द्रह लाख राजदरबारमें जमा करने चाहिये और पाँच लाख अपने पास रखने चाहिये, किन्तु ये अपने कायस्थपनेके बुद्धिकौशलसे बारह ही लाख जमा करते और आठ लाख स्वयं रख लेते। चिरकालसे ठेका इन्हींपर रहनेसे इन्हें भूम्यधिकारी होनेका स्थायी अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिये था, क्योंकि बारह वर्षमें ठेका स्थायी हो जाता है, इस बातसे उस पुराने चौधरीको चिढ़ हुई। उसने राजदरबारमें अपना अधिकार दिखाते हुए इन दोनों भाइयोंपर अभियोग चलाया और राजमन्त्रीको अपनी ओर मिला लिया। इसीलिये इन्हें पकड़नेके लिये राजकर्मचारी आये। अपनी गिरफ्तारीका समाचार सुनकर हिरण्यदास और गोवर्धनदास—दोनों भाई घर छोड़कर भाग गये। घरपर अकेले रघुनाथदासजी ही रह गये, चौधरीने इन्हें ही गिरफ्तार करा लिया और कारावासमें भेज दिया। यहाँ इन्हें इस बातके लिये रोज डराया और धमकाया जाता था कि ये अपने ताऊ (पिताके बड़े भाई) और पिताका पता बता दें, किन्तु इन्हें उनका क्या पता था, इसलिये ये कुछ भी नहीं बता सकते थे। इससे क्रुद्ध होकर चौधरी इन्हें भाँति-भाँतिकी यातनाएँ देनेकी चेष्टा करता, बुद्धिमान् और प्रत्युत्पन्नमति रघुनाथदासजीने सोचा—'ऐसे काम नहीं चलेगा। किसी-न-

किसी प्रकार इस चौधरीको ही वशमें करना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके वे मन-ही-मन उपाय सोचने लगे। एक दिन जब चौधरी इन्हें बहुत तंग करना चाहता था, तब इन्होंने स्वाभाविक स्नेह दर्शाते हुए अत्यन्त ही कोमल स्वरसे कहा—'चौधरीजी! आप मुझे क्यों तंग करते हैं? मेरे ताऊ, पिता और आप—तीनों भाई-भाई हैं। मैं अबतक तो आप तीनोंको भाई ही समझता हूँ। आप तीनों भाई आपसमें चाहे लड़ें या प्रेमसे रहें, मुझे बीचमें क्यों तंग करते हैं? आप तो आज लड़ रहे हैं कल फिर सभी भाई एक हो जायँगे। मैं तो जैसा उनका लड़का वैसा ही आपका लड़का। मैं तो आपको भी अपना बड़ा ताऊ ही समझता हूँ। आप कोई अनपढ़ तो हैं ही नहीं, सभी बातें जानते हैं। मेरे साथ ऐसा बर्ताव आपको शोभा नहीं देता।'

गुलाबके समान खिले हुए मुखसे स्नेह और सरलताके ऐसे शब्द सुनकर चौधरीका कठोर हृदय भी पसीज गया। उसने अपनी मोटी-मोटी भुजाओंसे रघुनाथदासजीको छातीसे लगाया और आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद कण्ठसे कहने लगा—'बेटा! सचमुच धनके लोभसे मैंने बड़ा पाप किया। तुम तो मेरे सगे पुत्रके समान हो, आजसे तुम मेरे पुत्र हुए। मैं अभी राजमन्त्रीसे कहकर तुम्हें छुड़वाये देता हूँ। तुम्हारे ताऊ और पिता जहाँ भी हों उन्हें खबर कर देना कि अब डर करनेका कोई काम नहीं है। वे खुशीसे अपने घर आकर रहें।' यह कहकर उन्होंने राजमन्त्रीसे रघुनाथदासजीको मुक्त करा दिया। वे अपने घर आकर रहने लगे। अब तो उन्हें इस संसारका यथार्थ रूप मालूम पड़ गया। अबतक वे समझते थे कि इस संसारमें सम्भवतया थोड़ा-बहुत सुख भी हो, किन्तु इस घटनासे उन्हें पता चल गया कि संसार दुःख और कलहका घर है। कहीं तो दीनताके दुःखसे दुखी होकर लोग मर रहे हैं, कहीं कामपीड़ित हुए कामीजन कामिनियोंके पीछे कुत्तोंकी भाँति घूम रहे हैं। कहीं कोई

भाईसे लड़ रहा है, तो किसी जगह पिता-पुत्रसे कलह हो रहा है। कहीं किसीको दस-बीस गाँवोंकी जमींदारी मिल गयी है या कोई अच्छी राज-नौकरी या राजपदवी प्राप्त हो गयी है तो वह उसीके मदमें चूर हुआ लोगों-को तुच्छ समझ रहा है। किसीकी कविताकी कलाकोविदोंने प्रशंसा कर दी है, तो वह अपनेको ही उशना और वेदव्यास समझता है। कोई विद्याके मदमें, कोई धनके मदमें, कोई सम्पत्ति, अधिकार और प्रतिष्ठाके मदमें चूर हैं। किसीका पुत्र मूर्ख है तो वह उसीकी चिन्तामें सदा दुखी बना रहता है। इसके विपरीत किसीका सर्वगुणसम्पन्न पुत्र है, तो उसे थोड़ा भी रोग होनेसे पिताका हृदय धड़कने लग जाता है, यदि कहीं वह मर गया तो फिर प्राणान्तके ही समान दुःख होता है। ऐसे संसारमें सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, आनन्द तथा उल्लास कहाँ! यहाँ तो चारों ओर घोर विषण्णता, भयंकर दुःख और भाँति-भाँतिकी चिन्ताओंका साम्राज्य है। सच्चा सुख तो शरीरधारी श्रीगुरुके चरणोंमें ही है। उन्हींके चरणोंमें जाकर परमशान्ति प्राप्त हो सकती है। जो प्रतिष्ठा नहीं चाहते, नेतृत्व नहीं चाहते, मान, सम्मान, बड़ाई और गुरुपनेकी जिनकी कामना नहीं है, जो इस संसारमें नामी पुरुष बननेकी वासनाको एकदम छोड़ चुके हैं, उनके लिये गुरुचरणोंके अतिरिक्त कोई दूसरा सुखकर, शान्तिकर, आनन्दकर तथा शीतलता प्रदान करनेवाला स्थान नहीं है। इसलिये अब मैं संसारी भोगोंसे पूर्ण इस घरमें नहीं रहूँगा। अब मैं श्रीचैतन्यचरणोंका ही आश्रय ग्रहण करूँगा, उन्हींकी शान्तिदायिनी सुखमयी क्रोड़में बालककी भाँति क्रीड़ा करूँगा। उनके अरुण रंगवाले सुन्दर तलुओंको अपनी जिह्वासे चाटूँगा और उसी अमृतोपम माधुरीसे मेरी तृप्ति हो सकेगी। चैतन्यचरणाम्बुजोंकी पावन परागके सिवा सुखका कोई भी दूसरा साधन नहीं। यह सोचकर वे कई बार पुरीकी ओर भगे भी, किन्तु धनी पिताने अपने सुचतुर कर्मचारियोंद्वारा इन्हें फिरसे पकड़वा मँगवाया और

सदा इनकी देख-रेख रखनेके निमित्त दस-पाँच पहरेदार इनके ऊपर बिठा दिये। अब ये बन्दीकी तरह पहरोंके भीतर रहने लगे। लोगोंकी आँख बचाकर ये क्षणभरको भी कहीं अकेले नहीं जा सकते थे। इससे इनकी विरह-व्यथा और भी अधिक बढ़ गयी। ये 'हा गौर! हा प्राणवल्लभ!' कह-कहकर जोरोंसे रुदन करने लगते। कभी-कभी जोरोंसे रुदन करते हुए कहने लगते—'हे हृदयरमण! इस वेदनापूर्ण सागरसे कब उबारोगे! कब अपने चरणोंकी शरण दोगे! कब इस अधमको अपनाओगे! कब इसे अपने पास बुलाओगे! किस समय अपनी मधुमयी अमृतवाणीसे भक्ति-तत्त्वके सुधासिक्त वचनोंसे इस हृदयकी दहकती हुई ज्वालाको बुझाओगे। हे मेरे जीवनसर्वस्व! हे मेरी बिना डाँड़की नौकाके पतवार! मेरी जीर्ण-शीर्ण तरीके कैवर्तक प्रभो! मुझे इस अन्धकूपसे बाँह पकड़कर बाहर निकालो।' इनके ऐसे वे सिर-पैरके प्रलापको सुनकर प्रेममयी माताको इनके लिये अपार दुःख होने लगा। उन्होंने अपने पति, इनके पिता गोवर्धनदास मजूमदारसे कहा—'हमारे कुलका एकमात्र सहारा यह रघु पागल हो गया है। इसे बाँधकर रखिये, ऐसा न हो यह कहीं भाग जाय।'

पिताने मार्मिक स्वरमें आह भरते हुए कहा—'रघुको दूसरे प्रकारका पागलपन है। वह संसारी बन्धनको छिन्न-भिन्न करना चाहता है। रस्सीसे बाँधनेसे यह नहीं रुकनेका। जिसे कुबेरके समान अतुल सम्पत्ति, राजाके समान अपार सुख, अप्सराके समान सुन्दर स्त्री और भाग्यहीनोंको कभी प्राप्त न होनेवाला अतुलनीय ऐश्वर्य ही जब घरमें बाँधनेको समर्थ नहीं है, उसे बेचारी रस्सी कितने दिनों बाँधकर रख सकती है!' माता अपने पतिके उत्तरसे और पुत्रके पागलपनसे अत्यन्त ही दुखी हुई। पिता भलीभाँति रघुनाथपर दृष्टि रखने लगे।

उन्हीं दिनों श्रीपाद नित्यानन्दजी ग्रामोंमें घूम-घूमकर संकीर्तनकी धूम मचा रहे थे। वे चैतन्यप्रेममें पागल बने अपने सैकड़ों भक्तोंको

साथ लिये इधर-उधर घूम रहे थे। उनके उद्दण्ड नृत्यको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते, चारों ओर उनके यश और कीर्तिकी धूम मच गयी। हजारों, लाखों मनुष्य नित्यानन्द प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। उन दिनों गौड़ देशमें 'निताई' के नामकी धूम थी। अच्छे-अच्छे सेठ-साहूकार और भूम्यधिपति इनके चरणोंमें आकर लोटते और ये उनके मस्तकोंपर निर्भय होकर अपना चरण रखते, वे कृतकृत्य होकर लौट जाते। लाखों रुपये भेंटमें आने लगे। नित्यानन्दजी खूब उदारता-पूर्वक उन्हें भक्तोंमें बाँटने लगे और सत्कर्मोंमें द्रव्यको व्यय करने लगे। पानीहाटी संकीर्तनका प्रधान केन्द्र बना हुआ था। वहाँके राघव पण्डित महाप्रभु तथा नित्यानन्दजीके अनन्य भक्त थे। नित्यानन्दजी उन्हींके यहाँ अधिक ठहरते थे। रघुनाथजीने जब नित्यानन्दजीका समाचार सुना तो वे पिताकी अनुमति लेकर बीसों सेवकोंके साथ पानीहाटीमें उनके दर्शनोंके लिये चल पड़े। उन्होंने दूरसे ही गङ्गाजीके किनारे बहुत-से भक्तोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके समान देदीप्यमान उच्चासनपर बैठे हुए नित्यानन्दजीको देखा। उन्हें देखते ही इन्होंने भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। किसी भक्तने कहा—'श्रीपाद! हिरण्य मजूमदारके कुँवर शाह रघुनाथदासजी आये हैं, वे प्रणाम कर रहे हैं।' खिलखिलाते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'अहा! रघु आया है? आज यह चोर जेलमेंसे कैसे निकल भागा? इसे यहाँ आनेकी आज्ञा कैसे मिल गयी? (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर कहने लगे) रघु! आ, यहाँ आकर मेरे पास बैठ।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत भावसे डरते-से सिकुड़े हुए रघुनाथदासजी सभी भक्तोंके पीछे जूतियोंमें बैठ गये। नित्यानन्दजीने अब रघुनाथदासजीपर अपनी कृपा की। महापुरुष धनिकोंको यदि किसी कामके करनेकी आज्ञा दें, तो उसे उनकी परम कृपा ही समझनी

किसीके हाथकी बनी पूड़ी तो क्या फलाहारी मिठाईतक नहीं खाते वे भी 'दही-चिउरा' अथवा 'चिउरा-दही' को मजेमें खा लेते हैं।

नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाते ही रघुनाथदासजीने फौरन आदमियों को इधर-उधर भेजा। बोरियोंमें भरकर मनों बढ़िया चिउरा आने लगे। इधर-उधरसे दूध-दहीके सैकड़ों घड़ोंको सिरपर रखे हुए सेवक आ पहुँचे। जो भी सुनता वही चिउराउत्सव देखनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वहाँ एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया। चारों ओर मनुष्योंके सिर-ही-सिर दीखते थे। सामने सैकड़ों घड़ोंमें दूध-दही भरा हुआ रखा था। हजारों बड़े-बड़े मिट्टीके कुल्हड़ दही-चिउरा खानेके लिये रखे थे। दूध और दहीके अलग-अलग चिउरा भिगोये गये। दहीमें कर्पूर, केसर आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाये गये; केला, सन्देश, नारिकेल आदि भी बहुत-से मँगाये गये। जो भी वहाँ आया सभीको दो-दो कुल्हड़ दिये गये। नित्यानन्दने महाप्रभुका आह्वान किया। नित्यानन्दजीको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रत्यक्ष श्रीचैतन्य चिउराउत्सव देखनेके लिये आये हैं। उन्होंने उनके लिये अलग पात्रोंमें चिउरा परोसे और 'हरि-हरि' ध्वनिके साथ सभीको प्रसाद पानेकी आज्ञा दी। पचासों आदमी परोस रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं बैठकर प्रसाद पाने लगा, सभीको उस दिनके चिउरोंमें एक प्रकारके दिव्य स्वादका अनुभव हुआ, सभीने खूब तृप्त होकर प्रसाद पाया। शामतक जो भी आता रहा, उसे ही प्रसाद देते रहे। रघुनाथदासजीको नित्यानन्दजीका उच्छिष्ट प्रसाद मिला। उस दिन राघव पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजीका भोजन बना था। उसे सभी भक्तोंने मिलकर शामको पाया। रघुनाथदास उस दिन वहीं राघव पण्डितके घर रहे।

दूसरे दिन उन्होंने नित्यानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे आज्ञा माँगी। नित्यानन्दजीने 'चैतन्यचरणप्राप्ति' का आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको पाकर रघुनाथदासजीको परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने राघव पण्डितको बुलाया और भक्तोंको कुछ भेंट करनेकी इच्छा प्रकट

चाहिये। क्योंकि धन अनित्य पदार्थ है और फिर यह एकके पास सदा स्थायी भी नहीं रहता। महापुरुष ऐसी अस्थिर वस्तुको अपनी अमोघ आशा प्रदानकर स्थिर और सार्थक बना देते हैं। धनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग ही यह है कि उसका व्यय महापुरुषोंकी इच्छासे हो, किन्तु ऐसा सुयोग सभीके भाग्यमें नहीं होता। किसी भाग्यशालीको ही ऐसा अमूल्य और दुर्लभ अवसर प्राप्त हो सकता है। नित्यानन्दजीके कहनेसे रघुनाथदास-जीने दो-चार हजार रुपये ही खर्च किये होंगे, किन्तु इतने ही खर्चसे उनका वह काम अमर हो गया और आज भी प्रतिवर्ष पानीहाटीमें 'चूराउत्सव' उनके इस कामकी स्मृति दिला रहा है। लाखों मनुष्य उन दिनों रघुनाथदासजीके चिउरोंका स्मरण करके उनकी उदारता और त्यागवृत्तिको स्मरण करके गद्‌गद कण्ठसे अश्रु बहाते हुए प्रेममें विभोर होकर नृत्य करते हैं। महामहिम रघुनाथदासजी सौभाग्यशाली थे, तभी तो नित्यानन्दजीने कहा—'रघु! आज तो तुम बुरे फँसे, अब यहाँसे सहजमें ही नहीं निकल सकते। मेरे सभी साथी भक्तोंको आज दही-चिउरा खिलाना होगा।' बङ्गाल तथा बिहारमें चिउराको सर्वश्रेष्ठ भोजन समझते हैं। पता नहीं, वहाँके लोगोंको उनमें क्या स्वाद आता है! चिउरा कच्चे धानोंको कूटकर बनाये जाते हैं और उन्हें दहीमें भिगोकर खाते हैं। बहुत-से लोग दूधमें भी चिउरा खाते हैं। दही-चिउरा ही सर्वश्रेष्ठ भोजन है। इसके दो भेद हैं—'दही-चिउरा और 'चिउरा-दही'। जिसमें चिउरोंके साथ यथेष्ट दही-चीनी दी जाय उसे तो 'दही-चिउरा' कहते हैं और जहाँ दही-चीनीका सङ्कोच हो और चिउरा अधिक होनेके कारण पानीमें भिगोकर दही-चीनीमें मिलाये जायँ, वहाँ उन्हें 'चिउरा-दही' कहते हैं। बहुत-से लोग तो पहले चिउरोंको दूधमें भिगो लेते हैं, फिर उन्हें दही-चीनीसे खाते हैं। अजीब स्वाद है। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके भिन्न-भिन्न पदार्थोंके साथ स्वाद भी भिन्न-भिन्न हैं। एक बात और। चिउरोंमें छूत-छात नहीं। जो ब्राह्मण,

किसीके हाथकी बनी पूड़ी तो क्या फलाहारी मिठाईतक नहीं खाते थे भी 'दही-चिउरा' अथवा 'चिउरा-दही' को मजेमें खा लेते हैं।

नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाते ही रघुनाथदासजीने चौरन आदमियों-को इधर-उधर भेजा। बोरियोंमें भरकर मनों बढ़िया चिउरा आने लगे। इधर-उधरसे दूध-दहीके सैकड़ों घड़ोंको सिरपर रखे हुए ग्वेक आ पहुँचे। जो भी सुनता वही चिउराउत्सव देखनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वहाँ एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया। चारों ओर मनुष्योंके सिर-ही-सिर दीखते थे। सामने सैकड़ों घड़ोंमें दूध-दही भरा हुआ रखा था। हजारों बड़े-बड़े मिट्टीके कुल्हड़ दही-चिउरा खानेके लिये रखे थे। दूध और दहीके अलग-अलग चिउरा भिगोये गये। दहीमें कर्पूर, केसर आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाये गये; केला, सन्देश, नारिकेल आदि भी बहुत-से मँगाये गये। जो भी वहाँ आया सभीको दो-दो कुल्हड़ दिये गये। नित्यानन्दने महाप्रभुका आह्वान किया। नित्यानन्दजीको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रत्यक्ष श्रीचैतन्य चिउराउत्सव देखनेके लिये आये हैं। उन्होंने उनके लिये अलग पात्रोंमें चिउरा परोसे और 'हरि-हरि' ध्वनिके साथ सभीको प्रसाद पानेकी आज्ञा दी। पचासों आदमी परोस रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं बैठकर प्रसाद पाने लगा, सभीको उस दिनके चिउरोंमें एक प्रकारके दिव्य स्वादका अनुभव हुआ, सभीने खूब तृप्त होकर प्रसाद पाया। शामतक जो भी आता रहा, उसे ही प्रसाद देते रहे। रघुनाथदासजीको नित्यानन्दजीका उच्छिष्ट प्रसाद मिला। उस दिन राघव पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजीका भोजन बना था। उसे सभी भक्तोंने मिलकर शामको पाया। रघुनाथदास उस दिन वहीं राघव पण्डितके घर रहे।

दूसरे दिन उन्होंने नित्यानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे आज्ञा माँगी। नित्यानन्दजीने 'चैतन्यचरणप्राप्ति' का आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको पाकर रघुनाथदासजीको परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने राघव पण्डितको बुलाया और भक्तोंको कुछ भेंट करनेकी इच्छा प्रकट

की। राघव पण्डितने उन्हें सहर्ष सम्मति दे दी। तब रघुनाथदासजीने नित्यानन्दजीके भण्डारीको बुलाकर सौ रुपये और सात तोला सोना नित्यानन्दजीके लिये दे दिया और उससे कह दिया कि हम चले जायँ, तब प्रभुपर यह बात प्रकट हो। फिर सभी भक्तोंको बुलाकर यथायोग्य उन्हें दस, पाँच, बीस या पचास रुपये भेंट दे-देकर सभीकी चरण-वन्दना की। चलते समय राघव पण्डितको भी वे सौ रुपये और दो तोला सोना दे गये। इस प्रकार सभीकी यथायोग्य पूजा करके रघुनाथदासजी अपने घर लौट आये।

वे शरीरसे तो लौट आये, किन्तु उनका मन नीलाचलमें प्रभुके पास पहुँच गया। अब उन्हें नीलाचलके सिवा कुछ सूझता ही नहीं था। जब उन्होंने सुना कि गौड़ देशके सैकड़ों भक्त सदाकी भाँति रथयात्राके उपलक्ष्यसे श्रीचैतन्यचरणोंमें चार महीने निवास करनेके निमित्त नीलाचल जा रहे हैं, तब तो उनकी उत्सुकता परिधिको पार कर गयी, किन्तु वे सबके साथ प्रकटरूपसे नीलाचल जा ही कैसे सकते थे! इसलिये वे किसी दिन एकान्तमें छिपकर घरसे भागनेका उद्योग करने लगे।

समय आनेपर प्रारब्ध सभी सुयोगोंको स्वयं ही लाकर उपस्थित कर देता है। एक दिन अरुणोदयके समय रघुनाथजीके गुरु तथा आचार्य यदुनन्दनजी उनके पास आये। उन्हें देखते ही रघुनाथदासजीने उन्हें भक्तिभावसे प्रणाम किया। आचार्यने स्नेहके साथ इनके कन्धेपर हाथ रखकर कहा—'भैया रघु! तुम उस पुजारीको क्यों नहीं समझाते? वह चार-पाँच दिनसे हमारे यहाँ पूजा करने आया ही नहीं। यदि वह नहीं कर सकता तो किसी दूसरे ही आदमीको नियुक्त कर दो।'

धीरे-धीरे रघुनाथदासजीने कहा—'नहीं, मैं उसे समझा दूँगा।' यह कहकर वे धीरे-धीरे आचार्यके साथ चलने लगे। उनके साथ-ही साथ वे बड़े फाटकसे बाहर आ गये। प्रातःकाल समझकर रात्रिके जगे हुए पहरेदार सो गये थे। रघुनाथदासजीको बाहर जाते हुए किसीने नहीं,

देखा। जब वे बातें करते-करते यदुनन्दनाचार्यजीके घरके समीप पहुँच गये तब उन्होंने धीरेसे कहा—'अच्छा, तो मैं अब जाऊँ!'

कुछ सम्भ्रमके साथ आचार्यने कहा—'हाँ, हाँ, तुम जाओ। लो, मुझे पता भी नहीं, तुम बातों-ही-बातोंमें यहाँतक चले आये! तुम अब जाकर जो करनेयोग्य कार्य हों, उन्हें करो।' बस, इसे ही वे गुरु-आज्ञा समझकर और अपने आचार्य महाराजकी चरणवन्दना करके रास्तेको बचाते हुए एक जंगलकी ओर हो लिये।

जो शरीरपर पहने थे, वही एक वस्त्र था। पासमें न पानी पीनेको पात्र था और न मार्गव्ययके लिये एक पैसा। बस, चैतन्यचरणोंका आश्रय ही उनका पावन पाथेय था। उसे ही कल्पतरु समझकर वे निश्चिन्त भावसे पगडण्डीके रास्तेसे चल पड़े। धूप-छाँहकी कुछ भी परवा न करते हुए वे बिना खाये-पीये 'गौर-गौर' कहकर रुदन करते हुए जा रहे थे। जो घरके पासके बगीचेमें भी पालकीसे ही जाते थे, जिन्होंने कभी कोसभरका भी मार्ग पैदल तय नहीं किया था, वे ही गोवर्धनदास मजूमदारके इकलौते लाड़िले लड़ैते लड़के कुँवर रघुनाथदास आज पन्द्रह कोस—३० मील—शामतक चले और शामको एक ग्वालेके घेरमें पड़ रहे। भूख-प्यासका इन्हें ध्यान नहीं था। ग्वालेने थोड़ा-सा दूध लाकर इन्हें दे दिया, उसे ही पीकर ये सो गये और प्रातःकाल बहुत ही सवेरे फिर चल पड़े। वे सोचते थे, यदि पुरी जानेवाले वैष्णवोंने भी हमें देख लिया तो फिर हम पकड़े जायँगे। इसीलिये वे गाँवोंमें न होकर पगडण्डीके रास्तेसे जा रहे थे।

इधर प्रातःकाल होते ही रघुनाथदासकी खोज होने लगी। रघुनाथ यहाँ, रघुनाथ वहाँ, यही आवाज चारों ओर सुनायी देने लगी। किन्तु रघुनाथ यहाँ-वहाँ कहाँ! वह तो जहाँका था वहाँ ही पहुँच गया। अब झींखते रहो। माता छटपटाने लगी, स्त्री सिर पीटने लगी, पिता आँखें मलने लगे, ताऊ बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़े। उसी समय गोवर्धन-

दास मजूमदारने पाँच घुड़सवारोंको बुलाकर उनके हाथों शिवानन्द सेनके पास एक पत्री पठायी कि 'रघु घरसे भागकर तुम्हारे साथ पुरी जा रहा है। उसे फौरन इन लोगोंके साथ लौटा दो।' घुड़सवार पत्री लेकर पुरी जानेवाले वैष्णवोंके पास रास्तेमें पहुँचे। पत्र पढ़कर सेन महाशयने उत्तर लिख दिया—'रघुनाथदासजी हमारे साथ नहीं आये हैं, न हमसे उनका साक्षात्कार ही हुआ। यदि वे हमें पुरी मिलेंगे तो हम आपको सूचित करेंगे।' उत्तर लेकर नौकर लौट आये। पत्रको पढ़कर रघुनाथदासजीके सभी परिवारके प्राणी शोकसागरमें निमग्न हो गये।

इधर रघुनाथदासजी मार्गकी कठिनाइयोंकी कुछ भी परवा न करते हुए, भूख-प्यास और सर्दी-गर्मीसे उदासीन होते हुए पचीस-तीस दिनके मार्गको केवल बारह दिनोंमें ही तय करके प्रभुसेवित श्रीनीलाचल-पुरीमें जा पहुँचे। उस समय महाप्रभु श्रीस्वरूपादि भक्तोंके सहित बैठे हुए कृष्णकथा कर रहे थे। उसी समय दूरसे ही भूमिपर लेटकर रघुनाथदासजीने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सभी भक्त सम्भ्रमके सहित उनकी ओर देखने लगे। किसीने उन्हें पहचाना ही नहीं। रास्तेकी थकान और सर्दी-गर्मीके कारण उनका चेहरा एकदम बदल गया था। मुकुन्दने पहचानकर जल्दीसे कहा—'प्रभो! रघुनाथदासजी हैं।' प्रभुने अत्यन्त ही उल्लासके साथ कहा—'हाँ, रघु आ गया? बड़े आनन्दकी बात है।' यह कहकर प्रभुने उठकर रघुनाथदासजीका आलिङ्गन किया। प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही रघुनाथदासजीकी सभी रास्तेकी थकान एकदम मिट गयी। वे प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे, प्रभु अपने कोमल करोंसे उनके अश्रु पोंछते हुए धीरे-धीरे उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। प्रभुके सुखद स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर रघुनाथदासजीने उपस्थित सभी भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और सभीने उनका आलिङ्गन किया।

रघुनाथदासजीके उतरे हुए चेहरेको देखकर प्रभुने स्वरूप दामोदरजी-से कहा—'स्वरूप! देखते हो न, रघुनाथ कितने कष्टसे यहाँ आया है।

इसे पैदल चलनेका अभ्यास नहीं है। बेचारेको क्या काम पड़ा होगा? इनके पिता और ताऊको तो तुम जानते ही हो। चक्रवर्तीजी (प्रभुके पूर्वाश्रमके नाना श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती) के साथ उन दोनोंका भ्रातृभावका व्यवहार था, इसी सम्बन्धसे ये दोनों भी हमें अपना धेवता करके ही मानते हैं। घोर संसारी हैं। वैसे साधु-वैष्णवोंकी श्रद्धाके साथ सेवा भी करते हैं, किन्तु उनके लिये धन-सम्पत्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वे परमार्थसे बहुत दूर हैं। रघुनाथके ऊपर भगवान्‌ने परम कृपा की, जो इसे उस अन्धकूपसे निकालकर यहाँ ले आये।

रघुनाथदासजीने धीरे-धीरे कहा—'मैं तो इसे श्रीचरणोंकी ही कृपा समझता हूँ, मेरे लिये तो ये ही युगलचरण सर्वस्व हैं।'

महाप्रभुने स्नेहके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'रघुनाथको आजसे मैं तुम्हें ही सौंपता हूँ। तुम्हीं आजसे इसके पिता, माता, भाई, गुरु और सखा सब कुछ हो। आजसे मैं इसे 'स्वरूपका रघु' कहा करूँगा।' यह कहकर प्रभुने रघुनाथदासजीका हाथ पकड़कर स्वरूप गोस्वामीके हाथमें दे दिया। रघुनाथदासजीने फिरसे स्वरूप दामोदरजीके चरणोंमें प्रणाम किया और स्वरूप गोस्वामीने भी उन्हें आलिङ्गन किया।

उसी समय गोविन्दने धीरेसे रघुनाथको बुलाकर कहा—'रास्तेमें न जाने कहाँपर कब खानेको मिला होगा, थोड़ा प्रसाद पा लो।' रघुनाथजीने कहा, 'समुद्रस्नान और श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके अनन्तर प्रसाद पाऊँगा।' यह कहकर वे समुद्रस्नान करने चले गये और वहींसे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते हुए प्रभुके वासस्थानपर लौट आये।

महाप्रभुके भिक्षा कर लेनेपर गोविन्दने प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद रघुनाथदासजीको दिया। प्रभुका प्रसादी महाप्रसाद पाकर रघुनाथजी वहीं निवास करने लगे। गोविन्द उन्हें नित्य महाप्रसाद दे देता था और ये उसे भक्तिभावसे पा लेते थे। इस प्रकार ये घर छोड़कर विरक्त-जीवन बिताने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका उत्कट वैराग्य

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥*

(श्रीमद्भा० ७। १५। ३६, ४०)

वैराग्य ही है भूषण जिनका ऐसे श्रीरघुनाथदासजी पुरीमे आकर प्रभुके चरणोंके समीप रहने लगे। पाँच दिनोंतक तो वे गोविन्दसे

---

* जो त्रिवर्गके क्षेत्ररूप गृहसे प्रथम विरक्त होकर पुनः उन त्रिवर्गोंका ही सेवन करता है वह निर्लज्ज मानो वमन किये हुए अन्नको फिरसे खाता है।

यदि ज्ञानद्वारा वासनाओंको नष्ट करके अपनेको परब्रह्मरूप जान लिया तो लम्पट पुरुष फिर किस कारण और किस इच्छासे इस नाशवान् देहको माल खिला खिलाकर मोटा बनाता है।

महाप्रसाद लेकर पाते रहे। पीछे उन्होंने सोचा—'महाप्रसादको इस प्रकार रोज यहींसे खाना ठीक नहीं है। यहाँ प्रभुके समीप और भी तो विरक्त वैष्णव हैं, वे सभी अपनी-अपनी भिक्षा लाते हैं, मुझे भी अपनी भिक्षा स्वयं लानी चाहिये। विरागी होकर यदि भिक्षा माँगनेमें सङ्कोच हुआ, तो मेरे ऐसे वैराग्यको धिक्कार है।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुके यहाँसे महाप्रसाद लेना बंद कर दिया।

रात्रिमें जगन्नाथजीकी पुष्पाञ्जलिके अनन्तर भगवान्‌को शयन कराकर सेवकगण अपने-अपने घरोंको चले जाते हैं। उस समय सिंह-द्वारपर बहुत-से अन्नार्थी दरिद्र भिक्षुक अपना पल्ला फैलाये खड़े रहते हैं। सेवक मन्दिरसे निकलकर कुछ थोड़ा-बहुत बचा हुआ प्रसाद उन्हें बाँट देते हैं। बहुत-से यात्री भी प्रसाद मोल मँगाकर थोड़ा-थोड़ा उन भिक्षुकोंको बँटवा देते हैं, कोई पैसा-धेला दे भी देता है। उस समयका वहाँका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक होता है। सभी भिक्षुक चाहते हैं कि सबसे पहले हमें ही प्रसाद मिल जाय, क्योंकि प्रसाद चुक जानेपर जिन्हें नहीं मिलता, उनके लिये बाँटनेवाले फिर थोड़े ही लाते हैं, इसीलिये बाँटनेवालेको चारों ओरसे घेर लेते हैं। जिसे मिल गया उसे मिल गया, जो रह गया सो रह गया, किन्तु वहाँ थोड़ा-बहुत प्रायः सभीको मिल जाता है। रघुनाथदासजी भी उन्हीं भिक्षुकोंमे अपनी फटी गुदड़ी ओढ़कर खड़े हो जाते थे। बिना माँगे किसीने सबोंके साथमे दे दिया तो ले लिया, किसी दिन चुक गया तो वैसे ही चले आये, ये बाँटनेवाले-पर अन्य भिक्षुकोंकी भाँति टूटे नहीं पड़ते थे।

महाप्रभुने जब दो-एक दिन रघुनाथदासजीको महाप्रसाद पाते नहीं देखा तब उन्होंने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! रघु प्रसाद नहीं पाता। वह खाता कहाँसे है?'

गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे अब सिंहद्वारपर अन्य भिक्षुकोंके साथ खड़े होकर भिक्षा माँगते हैं ।'

प्रभु इस बातको सुनकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए और हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द ! सचमुच रघु रत्न है, उसे सच्चा वैराग्य है । वैराग्य होनेपर मान, प्रतिष्ठा, इन्द्रियस्वाद और लोकलज्जाकी परवा ही नहीं रहती । त्यागी होकर जो परमुखापेक्षी बना रहता है, वह तो कूकरके समान है । त्यागीको अपनी वृत्ति सदा स्वतन्त्र रखनी चाहिये । भिक्षा माँगकर खाना ही उसके लिये परम भूषण है, और दूसरोंके अन्नकी इच्छा रखना ही भारी दूषण है । जो त्यागी होकर अपनी जिह्वाको वशमें नहीं कर सकता, घर छोड़नेपर जिसे भिक्षाका सङ्कोच है, वह तो इन्द्रियोंका गुलाम है । परमार्थका पथ उससे बहुत दूर है । वैरागीको निरन्तर नाम-जप करते रहना चाहिये । समयपर जो भी रूखा-सूखा भिक्षामें प्राप्त हो जाय उसीपर निर्वाह करके केवल कृष्ण-कथा-कीर्तनके निमित्त इस शरीरको धारण किये रहना चाहिये । रघुने यह बहुत सुन्दर काम किया ।'

इतने त्यागसे रघुनाथजीको कुछ-कुछ शान्तिका अनुभव होने लगा । हजारों आदमी जिनके आश्रयसे खाते थे, आजसे पन्द्रह दिन पूर्व जो हजारों आदमियोंके स्वामी बने हुए थे, सेवक जिनके समीप सदा हाथोंकी अञ्जलियाँ बाँधे खड़े रहते थे, वे ही मजूमदारके प्यारे पुत्र रघु एक मुट्ठी सिद्ध अन्नके लिये घंटों सिंहद्वारपर खड़े हुए बाँटनेवालेकी प्रतीक्षा करते रहते हैं और कभी-कभी तो वैसे-के-वैसे ही चले जाते हैं । अपने आसनपर जाकर जल पीकर ही बिना कुछ खाये सो जाते हैं, कभी चावल न मिलनेपर कोई दयालु पुरुष पैसे-धेलेका चना दिलवा देता है उन्हें ही चबाकर पड़ रहते हैं । बढ़िया-बढ़िया व्यञ्जनोंके थालोंको आजसे पंद्रह

दिन पहले सेवक इस भयसे डरते-डरते लाते थे कि कहीं किसीमें अधिक नमक तो न पड़ गया हो, कोई पदार्थ अधिक गीला तो न रह गया हो। वे ही रघु आज सूखे चनोंको जलके साथ गलेके नीचे उतारते हैं। वाह रे वैराग्य! धन्य है तेरी शक्तिको, जो महान् विलासीको भी परम तितिक्षावान् बना देती है!

रघुनाथदासजीने एक दिन विनम्र भावसे स्वरूप गोस्वामीसे निवेदन किया—'प्रभुने मुझे घर-बार छुड़ाकर किस निमित्त यहाँ बुलाया है, इसे जाननेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है। मुझे क्या करना चाहिये। मैं अपना कर्तव्य जानना चाहता हूँ।'—रघुनाथजी बड़े ही संकोची थे, वे प्रभुके सामने कभी भी अपने मुँहसे कोई बात नहीं निकालते थे। उनकी ओर कभी आँखें उठाकर देखते नहीं थे, जो कुछ कहलाना होता, उसे या तो स्वरूप गोस्वामीद्वारा कहलाते या गोविन्दके द्वारा। स्वयं वे सम्मुख होकर कोई बात नहीं पूछते थे।

एक दिन महाप्रभु स्वरूप गोस्वामीके साथ कथावार्ता कर रहे थे, उसी समय रघुनाथदासजीने आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर स्वरूप गोस्वामीकी वन्दना करके चुपचाप पीछेको एक ओर बैठ गये।

प्रभुने हँसते हुए कहा—'तुम्हारा यह रघु तो बड़ा ही संकोची है, हमसे बोलता ही नहीं। हमें पता भी नहीं क्या करता रहता है। तुमसे तो सब बातें कहता होगा, तुम्हीं इसकी बातें बताओ!' एक घुटनेको खड़ा करके उससे अपने दायें कपोलको सटाकर नीची दृष्टि किये हुए रघुनाथजी चुपचाप बैठे थे। अपने ही सम्बन्धका प्रसंग छिड़नेपर वे और भी अधिक संकुचित-से बन गये। संकोचके कारण वे अपने अंगोंमें समा जाना चाहते थे, स्वरूप गोस्वामीने धीरे-धीरे कहा—'रघु बड़ा पुरुषार्थ करता है। आपसे बातें कहनेमें इसे संकोच होता है। कल मुझसे

कहता था (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर उन्हींसे कहने लगे) हाँ भाई ! तुम जो मुझसे कल प्रभुसे कहनेके लिये कहते थे, उसे अब तुम्हीं प्रभुसे पूछो ।'

प्रभुने पुचकारते हुए कहा—'हाँ भाई ! कहो क्या बात पूछना चाहते थे ?'

रघुनाथजी कुछ विवशताके भावसे सिरको थोड़ा और नीचा करके चुपचाप ही बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी नहीं कहा । तब प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'अच्छा, तुम्हीं बताओ क्या पूछना चाहता था ?'

स्वरूपजीने कुछ रुक-रुककर कहा—'कहता था कि मेरा घर-बार क्यों छुड़ाया है ? मेरा कर्तव्य क्या है ? मुझे क्या करना चाहिये—इन बातोंको प्रभुसे पूछो ।'

यह सुनकर प्रभु हँसने लगे और रघुनाथजीको लक्ष्य करके कहने लगे—'तुम्हारे गुरु तो ये ही स्वरूपजी हैं । मैंने तुम्हें इन्हींको सौंप दिया है । साध्यसाधनतत्त्व तो ये मुझसे भी अधिक जानते हैं । मुझे भी कोई बात पूछनी होती है, तो इन्हींसे पूछता हूँ ।' इतना कहकर प्रभु चुप हो गये और फिर अपने-आप ही कहने लगे—यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है कि मैं ही तुमसे कुछ कहूँ तो मैंने तो सभी शास्त्रोंका सार यही समझा है कि श्रीकृष्ण-कीर्तन और नाम-स्मरण ही संसारमें सुखका सर्वश्रेष्ठ साधन है । प्रेमकी उपलब्धि नाम-स्मरणसे ही हो सकती है । अब नाम-स्मरण कैसा बनके करना चाहिये, बस यही समझनेकी बात है ।

जिसे प्रेमकी प्राप्ति करनी हो उसे सबसे पहले साधु-संग करना चाहिये । भजन, कीर्तन, सत्संग, भगवत्-लीलाओंका स्मरण यही मुख्य धर्म है, इन धर्मोंका पालन करना चाहिये । संसारी लोगोंसे विशेष सम्बन्ध रखना, संसारी लोगोंसे इधर-उधरकी बहुत-सी बातें करना,

दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना, इसीको ऋषियोंने लोकधर्म बताया है। इन बातोंसे सदा बचे रहना चाहिये। दूसरोंके गुण-दोषोंका कथन एकदम परित्याग कर देना चाहिये। यदि कुछ कहना ही हो तो दूसरोंके गुणोंको ही कहना चाहिये। दूसरोंके अवगुणोंपर तो ध्यान ही न देना चाहिये। चाहे कोई कितना भी बड़ा ज्ञानी, ध्यानी, मानी और पण्डित क्यों न हो, जहाँ उसने दूसरोंकी निन्दाके वाक्य मुखसे निकाले वहीं उसे पतित हुआ समझना चाहिये। दूसरोंके यथार्थ गुणोंकी स्तुतिके अनन्तर जहाँ यह वाक्य निकला कि 'अजी, और तो सब ठीक है; बस, उनमें यही एक दोष है' वहाँ ही वह दोष उस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। क्योंकि दोषोंके परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं, जबतक वे हृदयमें प्रवेश नहीं करते, तबतक दूसरोंकी निन्दा हो नहीं सकती। निन्दा करनेमें हम तभी समर्थ हो सकेंगे, जब दोषोंके परमाणु हमारे हृदयमें आ जायँगे। ज्यों-ज्यों दूसरोंकी निन्दा करोगे, त्यों-ही-त्यों वे परमाणु बढ़ने लगेंगे और वे तुम्हारे हृदयकी पवित्रता, सरलता, सच्चरित्रता और ज्ञानार्जनकी इच्छा आदि सद्वृत्तियोंको दबाकर वहाँ अज्ञान और मोहका साम्राज्य स्थापित कर देंगे। इसलिये 'अदोषदर्शी' होना यह वैष्णवोंके लिये सबसे मुख्य काम है। जो भगवद्भक्त महात्मा हैं, भागवत और साधु पुरुष हैं, उनकी निरन्तर सेवा करते रहना चाहिये। मान-प्रतिष्ठा और विषय-भोगोंकी इच्छा—इन सभीको कामतृष्णा कहते हैं। विरक्त पुरुषोंको इनसे सदा बचे रहना चाहिये। इस प्रकार सबसे विरक्त होकर निरन्तर भगवन्नामोंका जप, भगवल्लीलाओंका श्रवण और भगवत्-गुणोंका कीर्तन—ये ही सभी परमार्थके पथिकोंके लिये कर्तव्य कर्म हैं। इन कर्मोंके करनेवालेको कभी संसारमोह नहीं होता। मैं संक्षेपमें तुझे वैष्णवोंके मुख्य-मुख्य कर्म बताता हूँ।

(१) ग्राम्यकथा कभी श्रवण नहीं करनी चाहिये, ग्राम्यकथा सुननेसे चित्तमें वे ही बातें सरण होती हैं जिससे भजनमें चित्त नहीं लगता।

(२) ग्राम्यकथा कहनी भी न चाहिये। विषयी लोगोंकी बातें करनेसे नित्त विषयमय बन जाता है।

(३) अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ न खाने चाहिये, क्योंकि ऐसे पदार्थोंसे विषयलोलुपता बढ़ती है।

(४) अच्छे, चमकीले और बहुत स्वच्छ वस्त्र न पहनने चाहिये, क्योंकि उनके पहननेसे जीवनमें बनावट आती है और बनावटसे वृत्ति बहिर्मुखी बन जाती है।

(५) सदा अभिमानरहित होकर बर्ताव करना चाहिये। हृदयमें अभिमान आते ही सभी साधन नष्ट हो जाते हैं।

(६) दूसरोंको सदा मान देते रहना चाहिये, दूसरोंको मान देनेसे आत्माका सम्मान होता है और आत्मसम्मान ही सर्वश्रेष्ठ सम्मान है। इसके सामने सभी सम्मान तुच्छातितुच्छ हैं।

(७) सदा, सर्वत्र और सब अवस्थाओंमें भगवन्नामोंका जप करते रहना चाहिये। नामजपसे श्रीकृष्णचरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है।

(८) शुद्ध और श्रेष्ठ भावसे श्रीभगवान्‌की पूजा करते रहना चाहिये। मानसिक पूजा ही सर्वश्रेष्ठ पूजा है।

इस प्रकार इन धर्मोंके पालन करनेवाले वैष्णवको ही प्रभुप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।

महाप्रभुके उपदेशामृतको पान करके रघुनाथदासजीकी साध्य-साधनतत्त्वजिज्ञासारूपी पिपासा भलीभाँति शान्त हो गयी। उस दिनसे वे अहर्निश नामसंकीर्तन ही करते रहते। दिन-रात्रिके आठ पहरोंमेंसे वे साढ़े सात पहर भगवन्नामोंका जप करते रहते और आधा पहर भोजन तथा शयनमें बिताते।

उसी समय पीछे आनेवाले गौड़ीय भक्त भी पुरी आ गये। और सदाकी भाँति चार महीने रहकर देशको लौट गये, गोवर्धनदासजी मजूमदारने जब भक्तोंके पुरीसे लौटनेका समाचार सुना तो उन्होंने उसी समय अपना आदमी शिवानन्दजीके पास भेजकर रघुनाथदासजीका पता लगवाया। सेन महाशयके यहाँ पहुँचकर आदमीने उन्हें प्रणाम करके पूछा—'मेरे स्वामीने आपसे पुछवाया है कि मेरा लड़का रघुनाथदास यहाँसे पुरी भाग गया है, वह आपको पुरीमें तो नहीं मिला?'

सेन महाशयने कहा—'पुरीमें सभी विरक्त वैष्णवोंसे अधिक रघुनाथदास तितिक्षु हैं। उनका नाम वहाँ सभी जानते हैं। वे सिंहद्वारपर भिक्षा जो मिल जाता है, उसे ही खाकर अहर्निश श्रीकृष्णकीर्तन करते रहते हैं। वे सकुशल प्रभुके पादपद्मोंके समीप निवास कर रहे हैं।'

सेवकने सभी वृत्तान्त सप्तग्राममें जाकर अपने स्वामीसे कह दिया—'मेरा इकलौता पुत्र एक मुट्ठी चावलोंके लिये मन्दिरके द्वारपर खड़ा रहता है।' इस समाचारको सुनते ही धन-सम्पत्तिको ही सब कुछ समझनेवाला पिता शोकसे 'हाय, हाय' करने लगा। माता अश्रुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगी। अन्तमें पिताने अपने पुत्रके लिये ४००) देकर एक सेवक और रसोइया शिवानन्दजी सेनके पास भेजा। सेन महाशयने कहा—'अभी जाड़ेके दिन हैं, तुमलोग कहाँ जाओगे? चार-पाँच महीने ठहरो, जब हम चलेंगे तभी चलना।' सेवक इस उत्तरको सुनकर लौट आये और जब सेन महाशय दूसरी बार वर्षाके आरम्भमें चलने लगे, तब रुपये लेकर वे सेवक भी उनके साथ चले। पुरीमें पहुँचकर सेवकोंने रघुनाथदासजीको उनके पिताका सभी समाचार सुनाया और जो द्रव्य वे साथ लाये थे, उसे भी उन्हें देना चाहा, किन्तु उन्होंने द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। रघुनाथदासजीके अस्वीकार करनेपर भी सेवक द्रव्य लेकर वहीं रहने लगे।

रघुनाथदासजीने सोचा—'जब द्रव्य आ ही गया है, तो इसके द्वारा प्रभुकी सेवा ही क्यों न की जाय।' यही सोचकर वे महीनेमें दो बार प्रभुका निमन्त्रण करते और उन्हें भगवान्‌के प्रसादीके सुन्दर-सुन्दर पदार्थ लाकर भोजन कराते। प्रभु इनकी प्रसन्नताके निमित्त इनके निमन्त्रणपर जाकर भिक्षा कर आते थे। इस प्रकार दो वर्षोंतक रघुनाथदासजी प्रभुका निमन्त्रण करते रहे। उसमें खर्च ही क्या होना था, महीनेमें लगभग आठ आने खर्च होते थे।

एक दिन रघुनाथदासजीने सोचा—'जब मैंने घर-बार, कुटुम्ब-परिवार सबको छोड़ दिया है और सबसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया है, तो फिर मैं पिताके रुपयोंसे प्रभुका निमन्त्रण भी क्यों करूँ! इस निमन्त्रणसे प्रभु सन्तुष्ट थोड़े ही होते होंगे। वे तो मेरी प्रसन्नताके निमित्त यहाँ आकर भिक्षा कर जाते हैं।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुका निमन्त्रण करना बंद कर दिया।

एक दिन प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे पूछा—'स्वरूप! न जाने क्या बात है, अब रघु हमारा निमन्त्रण नहीं करता। कहीं नाराज तो नहीं हो गया?'

स्वरूप गोस्वामीजीने कहा—'प्रभो! रघुने सोचा होगा, विषयी लोगों-के द्रव्यसे प्रभुका निमन्त्रण करनेसे क्या लाभ! इससे प्रभु भी सन्तुष्ट न होते होंगे और मेरे मनमें भी संकल्प-विकल्प रहता है, यही सोचकर उन्होंने निमन्त्रण करना छोड़ दिया।

प्रभुने कहा—'स्वरूप! तुम ठीक कहते हो। विषयी लोगोंके अन्न खानेसे रजोगुणके भावोंकी वृद्धि होती है। विषयी लोगोंके अन्नमें कामनाओंके परमाणु रहते हैं। संसारी लोग कामनाशून्य होकर तो अपने जामाताको भी नहीं खिलाते। सकाम परमाणुओंसे बुद्धि भी मलिन

हो जाती है और मलिन बुद्धिसे श्रीकृष्णकीर्तन हो नहीं सकता। अतः जहाँतक हो, विषयी धनिक पुरुषोंके अन्नसे तो बचना ही चाहिये। मैं तो रघुके प्रेमसंकोचसे आजतक चला जाता था, उसने बड़ा अच्छा किया जो निमन्त्रण बंद कर दिया।' इतना कहकर प्रभु स्वरूप गोस्वामीसे रघुनाथजीके त्याग और वैराग्यकी बड़ाई करने लगे।

इधर अब रघुनाथदासजीको सिंहद्वारपर खड़े होकर माँगना कुछ बुरा-सा प्रतीत होने लगा। लोग उनसे परिचित हो गये थे, इसलिये बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ देने लगे। प्रभुने सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेके लिये निषेध कर दिया था; इसलिये उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा भी बंद कर दी। अब वे भिक्षुकोंके साथ क्षेत्रमें जाकर वहाँसे प्रसादी भात ले आते थे।

महाप्रभु सायंकालके समय रोज रघुनाथजीको सिंहद्वारपर खड़ा हुआ देख जाते थे। जब उन्होंने दो-चार दिन रघुनाथदासजीको वहाँ नहीं देखा तब उन्होंने एक दिन गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! रघु अब सिंहद्वारपर नहीं दीखता, पता नहीं, वह अब कहाँसे भिक्षा करता है?'

गोविन्दने कहा—'प्रभो! अब उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा बंद कर दी है, अब वे क्षेत्रसे जाकर दिनमें ही माँग लाते हैं।'

प्रभुने सन्तुष्टिके स्वरमें कहा—'रघुने यह सर्वोत्तम कार्य किया। सिंहद्वारपर भिक्षाकी लालसासे खड़े रहना वेश्यावृत्ति है। मुँहसे भले ही नाम-जप करते रहो, चित्तमें सदा यही बनी रहती है कि कोई अब देने-वाला आ जाय। यह आवेगा तो जरूर कुछ-न-कुछ देगा। अच्छा, इसने नहीं दिया तो यह तो जरूर ही कुछ देगा। बस, ये ही भाव उठते रहते हैं। क्षेत्रमें अच्छा है अपना एक बार जाकर ले आये और श्रीकृष्णकीर्तन करते रहे।' इतनेमें ही स्वरूप गोस्वामी आ गये। उन्हें

देखते ही प्रभु उल्लासके स्वरमें कहने लगे—'हाँ, हाँ, तुम खूब आ गये, कैसे ठीक समयपर पहुँचे। अभी-अभी तुम्हारे रघुका ही प्रसङ्ग चल रहा था। उसने सिंहद्वारकी भिक्षा क्यों बंद कर दी है?'

स्वरूप गोस्वामीने धीरेसे कहा—'वह विचित्र है, जहाँ उसे कुछ भी वैराग्यमें कमी दीखती है, वहीं उस कामको बंद कर देता है। उसने सिंहद्वारकी भिक्षामें कुछ दोष देखा होगा।'

प्रभुने कहा—'उसकी इस बातसे हम बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हैं, उसे बुलाओ तो सही कहाँ है?'

गोविन्द उसी समय जाकर रघुनाथदासजीको बुला लाये। प्रभुको और स्वरूप गोस्वामीको प्रणाम करके धीरे-धीरे भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए रघु स्वरूपके एक ओर बैठ गये। प्रभु जल्दीसे उठे और भीतरसे कुछ चीज उठाकर ले आये।

प्रभु आकर रघुनाथजीके ही समीप बैठ गये। रघुनाथदासजी संकोचके कारण और भी अधिक सिकुड़ गये। प्रभु उनके सुन्दर बालोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए कहने लगे—'रघु! मैं तुमपर बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हूँ। मैं प्रसन्न होकर तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, किन्तु मुझ निष्किञ्चनके पास देनेको और है ही क्या? जो मेरी सबसे प्यारी सम्पत्ति है, उसे ही तुम्हें देकर मैं सन्तुष्ट हूँगा। शङ्करारण्य सरस्वती वृन्दावन गये थे, उन्होंने वृन्दावनसे लौटकर यह गुञ्जामाला और यह गोवर्धन पर्वतकी शिला प्रसादीरूपमें मुझे दी थी। तुम तो जानते ही होगे कि गिरिराज गोवर्धन पर्वत तो श्रीकृष्णका साक्षात् विग्रह ही है। श्रीकृष्णमें और गोवर्धनमें किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं है। इसीलिये आज तीन वर्षोंसे मैं इस सुन्दर शिलाको अपने नेत्रजलसे स्नान कराता रहा हूँ। मेरी विकलताकी अवस्थामें यह शिला मेरे हृदयको शीतल

बनाती रही है। इसके स्पर्शसे मेरी आँखें पवित्र हुई हैं। ललाट धन्य हुआ है, अनेकों बार इसने मेरे हृदयको परम शीतलता प्रदान की है। भगवान्‌को गुञ्जामाला बहुत प्रिय थी, वे गोवर्धन पर्वतसे गुञ्जोंको पेड़ोंसहित उखाड़-उखाड़कर उनकी मालाएँ बनाकर स्वयं पहनते और अपने सारी गोप-ग्वालोंको भी पहनाते। इसीलिये मैं इसे भजनके समय पहना करता हूँ। ये दोनों वस्तुएँ मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं, इन्हें मैं तुम्हें सौंपता हूँ। तुम आजसे इस गोवर्धनशिलाकी सात्त्विक पूजा किया करना। सात्त्विक पूजामें एक कमण्डलु जल और तुलसीपत्र बस इतनी ही वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। जलसे स्नान करा दिया; तुलसी चढ़ा दी और भक्तिभावसे दण्डवत् कर ली, यही सात्त्विक सेवाका विधान है। तुलसी तथा जलके अभावमें केवल श्रद्धासहित प्रणाम करनेसे भी काम चल सकता है। लो सम्हालो अपनी चीजोंको।'

प्रभुप्रदत्त उन दोनों वस्तुओंको पाकर रघुनाथजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे प्रभुकी इस अपार कृपाके बोझसे दब-से गये। उन्होंने अत्यन्त ही पुलकित अङ्गसे प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिभावसे उन दोनों पूज्य वस्तुओंको हाथ फैलाकर दीन भिक्षुककी भाँति उन्हें स्वीकार किया। उस दिनसे वे उस शिलाकी पूजा करने लगे। पूजाके लिये एक-एक बिलस्तके दो वस्त्र और एक काष्ठका आसन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें दिया और मिट्टीका एक टोंटनीदार करुवा भी लाकर इन्हें दिया। इनके द्वारा ये भगवान्‌की सात्त्विक पूजा करते। इनका वैराग्य बड़ा ही उत्कट था। साधारण लोगोंको तो इनके वैराग्यकी कथा सुनकर विश्वास ही न होगा।

ये वस्त्रोंमें बस एक फटी गुदड़ी ही रखते। गुदड़ीके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वस्त्र नहीं पहनते थे। रात्रिमें केवल घंटे-डेढ़-घंटे

सोते थे, नहीं तो निरन्तर भगवन्नामस्मरण ही करते रहते। जिह्वाका स्वाद तो इन्होंने घर छोड़नेपर फिर कभी लिया ही नहीं। भिक्षामें जो भी रूखा-सूखा, मीठा-कड़वा जो कुछ मिल जाता सबको मिला-जुलाकर खा लेते थे। अब इनके घोर वैराग्यकी एक अद्भुत कथा सुनिये। इससे इनकी तितिक्षा, सहनशीलता, जिह्वासंयमकी कठोरता और निष्किञ्चनताका पता लग जायगा।

ये दोपहरको क्षेत्रसे भिक्षा लाते थे। उसमें भी इन्हें कुछ परतन्त्रता-सी दिखायी देने लगी। भण्डारी इन्हें अधिक भिक्षा देने लगा तथा और भी इन्होंने उसमें संग्रहके भाव देखे। अतः इन्होंने क्षेत्रसे अन्न लाना भी बंद कर दिया। अब ये दूसरी ही तरह इस पेटरूपी गड्ढेको आटने लगे।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्‌का प्रसादी भात बिकता है, दूकानदारोंकी दूकानपर जब दो-तीन दिन भात नहीं बिकता है, तो वह सड़ जाता है। उस सड़े हुए चावलोंको वे गौओंके लिये रास्तेमें फेंक देते हैं। तैलङ्गदेश वहाँसे पासमें ही है, पुरीमें बड़ी-बड़ी तैलङ्गी गौएँ वैसे ही इधर-उधर घूमती रहती हैं, उनका पेट इसी प्रकारके भातसे भर जाता है। सिंहद्वारके समीपमें बहुत-सी दूकानें हैं, उन्हींपर प्रसाद बिकता है। सड़े भातको वे वहीं डाल देते हैं, गौएँ भी पेट भरनेपर उस सड़े भातको नहीं खाती हैं। उसी भातको सायंकालके समय रघुनाथदासजी उठा ले जाते थे। फिर उसमें बहुत-सा जल डालकर धोते थे। उनमेंसे बहुत सड़े-सड़े दानोंको बीन-बीनकर वे निकाल देते और जो कुछ अच्छे चावलके दाने शेष रह जाते उन्हें ही थोड़े नमकके साथ खाकर वे पानी पी लेते थे। बस, इसी प्रकार वे समय बिताने लगे। इस सारे कामको वे रात्रिमें ही करते थे, जिससे कोई देखने न पावे।

एक दिन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें इस भातको खाते हुए देख लिया। उन्होंने हँसकर कहा—'क्यों रघु! अकेले-ही-अकेले ऐसे सुस्वादु पदार्थको खा जाते हो, हमें एक दिन भी नहीं देते।' रघुनाथदासजी कुछ लज्जितभावसे चुप हो गये।

महाप्रभु तो अपने भक्तोंकी एक-एक बातकी खोज-खबर रखते थे। एक दिन प्रभुने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! मालूम पड़ता है, रघु अब क्षेत्रसे भी भिक्षा नहीं लाता। यह भिक्षा कहाँ करता है?'

गोविन्दने रघुनाथदासका सभी वृत्तान्त सुना दिया। सुनकर प्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी दिन सायंकालके समय प्रभु रघुनाथजीके स्थानपर गये। उस समय वे धीरे-धीरे उस सुस्वादु अन्नको खा रहे थे। प्रभु धीरे-धीरे जाकर उनके पीछे खड़े हो गये। रघुनाथदास-जीको क्या पता कि मेरे पीछे कौन खड़ा है? ज्यों ही उन्होंने ग्रासको मुँहमें दिया त्यों ही प्रभुने धीरेसे कहा—'क्यों जी, स्वरूपके रघु! हमारा निमन्त्रण भी बंद कर दिया और ऐसे सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको भी आप-ही-आप छिपकर चुपके-चुपके खा जाते हो, हमें इसमेंसे कुछ भी नहीं देते।' यह कहकर प्रभुने उनके पात्रमेंसे एक मुट्ठी चावल जल्दीसे उठाकर अपने मुँहमें डाल लिये।

'हाय, हाय' करते हुए अत्यन्त ही करुण स्वरमें रघुनाथदासजी रोते-रोते और उस पात्रको दोनों हाथोंसे पकड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? नाथ! यह आपके योग्य नहीं है। प्रभो! इस गले हुए उच्छिष्ट अन्नको खाकर मुझे पापका भागी न बनाइये।' मुँहमें भरे हुए ग्रासको जल्दी-जल्दी प्रभु खाते हुए फिर दूसरा ग्रास लेनेके लिये उनकी ओर लपके, इतनेमें ही हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी वहाँ आ उपस्थित हुए। प्रभुको रघुनाथसे भात छीनते देख-

कर उन्होंने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे—'प्रभो! यह आपके योग्य नहीं है।'

प्रभु उस सूखे भातको कठिनतासे निगलते-निगलते कहने लगे—'स्वरूप! तुमसे मैं सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद आजके इन चावलोंमें आया है, उतना जीवनपर्यन्त किसी भी पदार्थमें नहीं मिला।' अहा, धन्य है, ऐसी भक्तवत्सलताको। हे प्रभो! यह आपके वैराग्यका ही स्वाद है। हे गौर! तुम्हीं जीवोंको प्रेम प्रदान करते हो और फिर तुम्हीं उसका रसास्वादन करके मग्न होते हो। हे चैतन्य! तुम्हारी लीला विचित्र है, तुम्हारी माया अपरम्पार है। हम पाप-पंकमें फँसे हुए विषयोंको ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझनेवाले क्षुद्र प्राणी तुम्हारी लीलाओंका रहस्य समझ ही क्या सकते हैं। जिसके ऊपर तुम कृपा करते हो, वह संसार-सागरसे बात-की-बातमें पार हो जाता है।

इस प्रकार महामना श्रीरघुनाथदासजी चैतन्यचरणोंकी अपार अनुकम्पाका अनुभव करते हुए सोलह वर्षोंतक पुरीमें इसी प्रकारका त्याग-वैराग्ययुक्त प्रेममय जीवन बिताते रहे।*

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये पाँचवाँ खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(पञ्चम खण्ड)

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय			पृष्ठाङ्क
मङ्गलाचरण	...	...	५
समर्पण	...	...	७
अन्तिम निवेदन	...	...	९
१—छोटे हरिदासको स्त्री-दर्शनका दण्ड	...	...	२१
२—धन माँगनेवाले भृत्यको दण्ड	...	...	३२
३—गोपीनाथ पट्टनायक सूलीसे बचे	...	...	३६
४—श्रीशिवानन्द सेनकी सहनशीलता	...	...	४८
५—पुरीदास या कविकर्णपूर	...	...	५३
६—महाप्रभुकी अलौकिक क्षमा	...	...	५९
७—निन्दकके प्रति भी सम्मानके भाव	...	...	६४
८—महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन	...	...	७४
९—भक्त कालिदासपर प्रभुकी परमकृपा	...	...	८४
१०—जगदानन्दजीके साथ प्रेम-कलह	...	...	९१
११—जगदानन्दजीकी एकनिष्ठा	...	...	९९
१२—श्रीरघुनाथ भट्टको प्रभुकी आज्ञा	...	...	१११
१३—गम्भीरा मन्दिरमें श्रीगौराङ्ग	...	...	११८
१४—प्रेमकी अवस्थाओंका संक्षिप्त परिचय		...	१२८
१५—महाप्रभुका दिव्योन्माद	...	...	१५१
१६—गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन		...	१५७
१७—श्रीकृष्णान्वेषण	...	...	१६१
१८—उन्मादावस्थाकी अद्भुत आकृति	...	...	१६८

विषय			पृष्ठाङ्क
१९—लोकातीत दिव्योन्माद	...	...	१७६
२०—शारदीय निशीथमे दिव्य गन्धका अनुसरण		...	१८१
२१—श्रीअद्वैताचार्यकी पहेली	...	...	१८६
२२—समुद्रपतन और मृत्युदशा	...	...	१९१
२३—महाप्रभुका अदर्शन अथवा लीलासंवरण		...	१९९
२४—श्रीमती विष्णुप्रियादेवी	...	...	२०९
२५—श्रीश्रीनिवासाचार्यजी	...	...	२२२
२६—ठाकुर नरोत्तमदासजी	...	...	२३३
२७—महाप्रभुके वृन्दावनस्थ छः गोस्वामिगण		...	२३८
२८—श्रीचैतन्य-शिक्षाष्टक	...	...	२५४
२९—कृतज्ञता-प्रकाश	...	...	२६७
३०—श्रीचैतन्य-चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ	...	२७६ से २७९ तक	

चित्र-सूची

१—श्रीचैतन्य अथाह सागरके जलमें कूद पड़े	(रंगीन)		२१
२—श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर	...	(सादा)	२३
३—महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन	...	(रंगीन)	७९
४—टोटा गोपीनाथजीका मन्दिर	...	(सादा)	८०
५—श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर	...	(,,)	८२
६—सिद्ध बकुल वृक्ष	...	(,,)	८३
७—श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्राका विशाल रथ		(,,)	१५४
८—श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरका सिंहद्वार		(,,)	१५५
९—प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके विग्रहका आलिङ्गन किया		(रंगीन)	२०७

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकराञ्जनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

मीठी मुरलीके बजानेमें जो प्रवीण है, पीताम्बर ही जिसका सम प्रिय परिधान है, पके हुए पेंचूके समान अरुण रंगके जिसके अधर हैं, सुन्दर, शीतल, सुखद, सौम्य और सुहावना जिसका मुखारविन्द है, जो सदा मन्द-मन्द मुस्कराता ही रहता है, विषादसे जिसका वैर है और कमलके समान खिले हुए, खुले हुए, कुछ-कुछ टेढ़े हुए और कानोंतक मिले हुए जिसके दोनों नेत्र हैं, उस काले कृष्णको छोड़कर जाना चाहूँ भी तो किसकी शरणमें जाऊँ? इसलिये उस निष्ठुरकी ही पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाता हूँ।

श्री चुन्नीलाल मगनलाल वंदार पुस्तकालय
डाकोर

श्रीहरिः

समर्पण

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मामुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे॥

प्यारे! लो, तुम्हारा काम तो पूरा हो गया, किन्तु हृदयमें बड़ी हलचल पैदा हो गयी। सभी प्रिय बन्धु छोड़कर चले गये। गम्भीरा-मन्दिरमें उन्मत्त हुए चैतन्यका चित्र हृदयपटलपर ज्यों-का-त्यों ही अङ्कित है। प्यारे! अब कबतक ऐसा जीवन और बितवाओगे? हृदयरमण! चैतन्यदेवके रुदनमें, उनकी मस्तीमें, उनके विरहमें, उनकी बेकली और बेचैनीमें मेरा कुछ भी साझा नहीं है क्या! बस, जीवनमें हृदयसे, सच्चे दिलसे, एक बार जोरोंकी आह निकल जाय, वह यह कि—

हा हन्त हा हन्त कथं न यामि।

'इस ऐसे शुष्क जीवन-भारको कबतक और ढोता रहूँ' तो यह जीवन धन्य हो जाय, प्यारे! कभी ऐसी आह निकलेगी भी क्या?

वैशाखी पूर्णिमाकी सन्ध्या
संवत् १९८१

तुम्हारा ही अकिञ्चन
'प्रभु'

अन्तिम निवेदन

भ्रमन् वनान्ते नवमञ्जरीषु
न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता
'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' ॥*

(सु० र० भां० ९६ । ५९)

विधिका कैसा विचित्र विधान है, 'दयानिधिकी गतिको कौन समझ सकता है । 'विश्वमें उनकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता' यह कितना ध्रुव सत्य है । जिसे हम करना नहीं चाहते दैव उसे करा लेता है । जो हम करना चाहते हैं, दैवके प्रतिकूल होनेसे उसे हम नहीं कर सकते । हम एक अदृश्य शक्तिके हाथके खिलौने हैं, तभी तो कहा है 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' अर्थात् ईश्वरकी इच्छा ही बड़ी बलवती है ।

परसालके विचारोंका स्मरण होता है, कुछ लज्जा भी आती है और हँसी भी । लज्जा तो अपनी दुर्बलता और कमजोरीके कारण आती है और हँसी अपने अज्ञानजन्य विचारोंपर । परसाल यही वैशाख-ज्येष्ठका महीना था, गङ्गाजीके किनारेकी तप्त बालुकामें ठीक-ठीक दोपहरीमें पैदल चलता था । किसी दिन बीस मील तो किसी दिन पचीस मील । प्रातः-

---

* उपवनके भीतर नयी-नयी मञ्जरियोंपर झूमते हुए भौंरेने चम्पाकी गन्ध न ली ? क्या वह रमणीय न थी या वह भौंरा ही रमनेवाला नहीं था ? नहीं, 'असलमें केवल भगवान्‌की इच्छा ही प्रबल है ।'

कालसे बारह बजेतक चलता ही रहा। बारह-एक बजे जहाँ भी गाँव मिल गया रोटी माँगी, खायी और फिर चल पड़ा। उन दिनों चलते रहना ही जीवन-का व्यापार था। आज तो गङ्गाजीकी उस तप्त बालुकामें होकर बारह बजे नंगे पैरों स्नान करने जाता हूँ, तो कष्ट प्रतीत होता है, किन्तु उन दिनों तो एक धुन सवार थी। धुनमें कष्ट कहाँ! वहाँ तो लक्ष्यपर पहुँचना ही एकमात्र ध्येय रह जाता है। कष्ट, असुविधाएँ ये सब पीछे ही पड़ी रह जाती हैं। परसाल इन दिनों स्वप्नमें भी विचार नहीं था कि अब इसी स्थितिमें लौटकर फिर इसी जगह गङ्गाकिनारे आना पड़ेगा। मैं अपनेको पूर्ण त्यागका अधिकारी मान बैठा था। सोचता था—'चलो, पिण्ड छूटा, अब न लिखना पड़ेगा, न पढ़ना। बस—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।

यही जीवनभर एकमात्र रट रहेगी। कलमका अब क्या काम!'

कानपुरके समीप नानामऊ नामक एक स्थानमें पूज्यपाद श्रीअनंग-बोधाश्रमजी महाराज मिले। उनसे तीन-चार वर्ष पूर्वका ही परिचय था। तितिक्षाकी तो साक्षात् मूर्ति हैं। मैंने अपने जीवनभरमें इतनी तितिक्षा करनेवाला दूसरा व्यक्ति आजतक नहीं देखा। ये महापुरुष दस-पंद्रह वर्षसे सदा दिगम्बर-वेषमें ही रहते हैं। जाड़ा हो, गर्मी हो, चाहे मूसलाधार जल गिरता हो, वे सदा नंगे ही रहते हैं। माघ-पूसके जाड़ेमें गङ्गाजीके किनारे कितनी सर्दी होती है, इसे गङ्गाकिनारेपर रहनेवाले व्यक्ति ही समझ सकते हैं, परन्तु वहाँ नंगे रहनेवाले व्यक्ति मैंने और भी बहुत-से देखे हैं, किन्तु ये महापुरुष तो ज्येष्ठ-वैशाखकी धूपमें बारह बजेसे चार बजेतक गङ्गाजीकी दहकती बालूमें जान-बूझकर पड़े रहते हैं। कोई पुरुष इसका अनुमान भी नहीं लगा सकता। किन्तु यह कविकल्पना थोड़े ही है, प्रत्यक्ष बात है। वे महापुरुष कहीं चले थोड़े ही गये हैं, अब भी गङ्गाकिनारे वे कहीं तपी हुई बालूमें ही पड़े होंगे। वे अधिकतर

कानपुर (या शायद उन्नाव) के जिलेमें 'बक्सर' नामक ग्राममें कभी-कभी दो-चार महीनेके लिये ठहर जाते हैं। नहीं तो काशीसे ऋषिकेशतक गङ्गाके किनारे-किनारे ही विचरते रहते हैं। काशीसे आगे नहीं बढ़ते और ऋषिकेशसे ऊपर नहीं चढ़ते। सहसा पड़े हुए मिल गये। मुझे टाटकी लँगोटी पहने देखकर हँसने लगे, बोले—'लिखना-पढ़ना बिल्कुल छोड़ दिया न? अब तो लिखने-पढ़नेकी कोई वासना नहीं है?' मैंने कुछ गर्वपूर्ण नम्रताके साथ कहा—'जी नहीं, अब कोई वाञ्छा नहीं। सब फेंक-फाँक आया।' आप हँसने लगे और बोले—'यह शास्त्र-वासना भी बड़ी प्रबल वासना होती है, इसका छूटना बड़ा कठिन है, चलो, भगवान्‌की तुम्हारे ऊपर बड़ी कृपा हुई जो तुम्हारी यह वासना छूट गयी।' मैं चुप रहा। वहीं निश्चय हुआ कि हरिद्वारतक साथ-ही-साथ चलेंगे। किन्तु हमारा-उनका साथ कैसा? वे महापुरुष यदि चलें तो एक दिनमें पचास-पचास साठ-साठ मील चले जायँ और न चलें तो दस-दस बीस-बीस दिन एक ही स्थानपर पड़े रहें। चलते समय वे रात्रि, दिन, दोपहरी, वर्षा किसीकी भी परवा नहीं करते थे। अस्तु, मैंने कहा—'जहाँतक चल सकेंगे साथ-साथ चलेंगे।'

उन महापुरुषके साथ मैं चलने लगा। उनसे किसी प्रकारका सङ्कोच या भय तो था ही नहीं। जिस प्रकार निर्भीक पुत्र अपने सरल पितासे सभी बातें बिना किसी सङ्कोचके करता है, उसी प्रकार उनसे बातें होतीं। उनके जीवनमें सचमुच मस्ती थी। मुझसे वे अनुमानसे दुगुने लंबे होंगे। लंबा और इकहरा पतला शरीर था, चिरकालकी घोर तितिक्षाके कारण उनके शरीरका चर्म जंगली भैंसेके समान काला और मोटा पड़ गया था, दूरसे देखनेसे बिल्कुल प्रेत-से प्रतीत होते। जब वे अपने सम्पूर्ण शरीरमें गङ्गारज लपेट लेते तब तो उनके देव होनेमें किसीको सन्देह ही न रहता। गङ्गाजीकी धाराको छोड़कर वे पगभर भी

नहीं जाते थे । बिल्कुल तीरपर ही कोई गाँव मिल जाय तो भिक्षा कर ली, नहीं तो हरि-इच्छा । माताके दर्शनोंसे वे अपनेको वञ्चित रखना नहीं चाहते थे । विरक्ती मस्ती ही तो ठहरी । दिनमें बीसों बार गङ्गाजी-को पार करते, कभी इस पारपर चलने लगते तो कभी उस पार पहुँच जाते । गर्मियोंमें प्रायः सर्वत्र ही गङ्गाजी पार उतरनेयोग्य हो जाती हैं, वे घाट-कुघाटकी कुछ भी परवा नहीं करते; जहाँ मौज आयी वहीं पार हो गये । भय तो उन्हें होना ही किसका था । मैं भी उनका अनुकरण और अनुसरण करने लगा । एक स्थानपर पार उतर रहे थे, उनके पास तो कुछ वस्त्र या पात्र था ही नहीं, जल्दीसे पार हो गये । मेरे पास जलपात्र था, लँगोटी थी और एक टाटकी चादर थी । जल अधिक था, मेरी लँगोटी आदि भीग गयी । वे महापुरुष हँसकर बोले—'ब्रह्मचारी ! इस लँगोटीकी भी इल्लत ही है, इसे भी फेंक दो ।' बस, इतना सुनना था, कि मैंने लँगोटी फेंक दी । चदरा फेंक दिया और कमण्डलु भी इधर-उधर लुढ़कने लगा । उस समय अपनेको दिगम्बर-वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आनन्द आया । वे महापुरुष जोरोंसे हँसते हुए कहने लगे—'अभी नहीं भाई ! अभी नहीं । अभी तो इतने वस्त्र ठीक ही हैं । जब लँगोटी छोड़नेका समय आवेगा, तब मैं बताऊँगा ।' मैंने भी कुछ बिल्कुल छोड़नेकी इच्छासे लँगोटी नहीं फेंकी थी, उनकी आज्ञा पाते ही लँगोटी पहन ली ।

इस बातका कटु अनुभव मुझे वहीं हुआ कि शरीरका प्रारब्ध महापुरुषोंको भी नहीं छोड़ता । शारीरिक दुःख-सुख सभीको भोगने पड़ते हैं, किन्तु भगवत्परायण विज्ञानी पुरुष उन्हें अपनेमें नहीं समझता । वह द्रष्टाकी भाँति दूर खड़ा होकर दुःख-सुखको देखता रहता है । इतने बड़े तितिक्षु महापुरुषको भी शारीरिक पीड़ा बेचैन बनाये हुए थी । उनके आधे मस्तकमें घोर दर्द हो रहा था, उनकी पीड़ा असह्य थी, किन्तु वे उसे बड़े साहसके साथ सहन कर रहे थे । मुझे पेटकी भयङ्कर

पीड़ा प्रायः होती है, उसी अनुभवके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि उनकी पीड़ा बड़ी ही भयङ्कर थी, वे उसके कारण बेचैन थे। उन्हें कहीं लक्ष्य बनाकर जाना-आना तो था ही नहीं। उनकी मौज आती फिर पीछे लौट जाते। मेरा तो लक्ष्य अति शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना था, अतः वे महात्मा एक स्थानपर डट गये। मैं रामपालजीके साथ उनकी चरण-वन्दना करके आगे चल पड़ा। मैं उनके दुःखको किसी प्रकार बटा ही नहीं सकता था, जानेकी शीघ्रताके कारण मैं उनके साथके लिये नहीं रुक सका।

रास्तेमें मैं सोचता था—'ये महापुरुष कहते हैं, अभी नहीं, अभी कुछ देरी है। मुझे अब क्या देरी है। नीचे कुछ लोगोंका सङ्कोच अवश्य है। पहाड़पर आप-से-आप लँगोटी उतर पड़ेगी, फिर चेष्टा नहीं करूँगा। कौन जानता था कि लँगोटीके साथ कम्बल और बिछौना-ओढ़ना भी रखना पड़ेगा।

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबा उन दिनों कासगंजमें पधारे हुए थे। सोरोंसे हम गङ्गाकिनारा छोड़कर उनके दर्शनोंके लिये गये। परम वात्सल्य-स्नेह प्रकट करते हुए रामपालजीसे मेरी सभी छोटी-बड़ी बातें पूछीं, मेरे पैरोंमें बड़ी-बड़ी बिवाइयोंको देखकर उनका नवनीतके समान स्निग्ध हृदय वात्सल्य-स्नेहके कारण द्रवीभूत होने लगा। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भैया! इतनी तितिक्षा ठीक नहीं। थोड़ा कम चला करो।' किन्तु मैं तो इसे तितिक्षा समझता ही नहीं था। शीघ्र-से-शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना ही मेरा लक्ष्य था। उन दिनों "कल्याण" का श्रीकृष्णाङ्क निकलनेवाला था। महाराज उसके लिये माँगे गये लेखों-की विषय-सूची पढ़वा रहे थे। बीचमें ही आप कहने लगे—'अमुक विषयपर तो ब्रह्मचारीजी बड़ा अच्छा लिखते।'

किसी सत्सङ्गी बन्धुने कहा—'ब्रह्मचारीजीने तो कलमसे लिखना अब छोड़ ही दिया है।'

महाराजने सरलताके साथ कहा—'भैया ! अभी क्या पता। हाँ, इस समय तो छोड़ ही दिया है, भविष्यकी भगवान् जानें।'

इससे मुझे कुछ-कुछ भय-सा हुआ 'क्या सचमुच मुझे फिर लौटकर लिखना पढ़ना पड़ेगा। महापुरुषोंके वाक्य अन्यथा थोड़े ही होते हैं। श्रावणमें ही मुझे पहाड़से लौटकर यहाँ आना पड़ा और जो कुछ हुआ वह पाठकोंके सम्मुख है। मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको श्रीचैतन्य-चरितावलीका लिखना प्रारम्भ किया और आज वैशाखी पूर्णिमाको इसकी परिसमाप्ति हो गयी। इसके बीचमें जो शारीरिक क्लेश हुए उनका उल्लेख करना विषयान्तर हो जायगा। और पाठकोंको उससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं यह तो मेरा निजी रोना है।

मुझे न अपने इस नीचे लौटनेका दुःख है और न मेरे पहले लक्ष्यमें किसी प्रकारका परिवर्तन ही हुआ है। इस बातको अब भी मैं मानता हूँ कि बिना सर्वस्व त्याग किये श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति बहुत कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। और त्यागमय जीवन बितानेके लिये (१) भक्त और भगवल्लीलाओंका श्रवण, (२) नामजप और (३) महात्माओंका पादोदक-पान—ये तीन ही प्रधान और सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। जिसे भगवान्-के किसी भी नाममें श्रद्धा नहीं, जिसे भगवान् और भक्तोंकी लीलाओंके श्रवणमें आनन्द नहीं आता और जो महात्माओंकी चरण-धूलिको मस्तक-पर चढ़ाने तथा उनके पादोदक पान करनेमें सङ्कोच करता है, वह कभी भी श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका अधिकारी नहीं हो सकता। इन साधनोंके ही द्वारा त्यागमय जीवन अपने-आप बन जाता है और त्यागमय जीवन होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्ति हो जाना अनिवार्य ही है। श्रीकृष्ण न जाने क्यों हृदयमें अकेले ही रहना अधिक पसंद करते हैं। जिस हृदयमें संसारी प्रिय पदार्थोंके प्रति परिग्रहके भाव हैं, जहाँ विषय-सुखकी वासनाएँ

विराजमान हैं, जहाँ संसारी द्रव्य संग्रह करनेकी इच्छा है, श्रीकृष्ण उस स्थानसे दूर भाग जाते हैं। उस कृपालु कृष्णने कहा—'अभी तुम्हें और साधना करनी होगी, साधन करो, भक्तोंका पादोदक पान करो, श्रीमद्भागवतका श्रवण करो, भक्तोंके चरित्र सुनो, तब तुम्हें मेरी उपलब्धि हो सकेगी।' क्या करता ? किसीको स्त्री-पुत्रोंका, किसीको धनका, किसीको तप-वैराग्यका और किसीको विद्याका सहारा होता है, किन्तु यहाँ तो इनमेंसे कोई भी वस्तु अपने पास नहीं है। यदि थोड़ा-बहुत कुछ सहारा कहिये, विश्वास समझिये उसी गिरिधर गोपालका है। दूसरा कौन इस उभयभ्रष्ट व्यक्तिको सहारा दे सकता है। उस कृपालु कृष्णने अपार कृपा की। यहाँ लाकर पटक दिया। साधु-सङ्गका सुयोग प्राप्त कराया, चैतन्य-चरित्र लिखाया, अपना सुयश सुनवाया और गङ्गामाताका नित्यप्रतिका 'दरस-परस अरु मज्जन पान' प्रदान किया। वे चाहते तो विषयोंमें भी लाकर पटक देते, किन्तु वे दयामय बड़े ही कृपालु हैं। निर्बलोंकी वे स्वयं ही सहायता करते हैं, किन्तु निर्बल भी सच्चा और सरल होना चाहिये, जिसे दूसरेका सहारा ही न हो, यहाँ तो इतनी सचाई और सरलता प्रतीत नहीं होती, फिर भी वे अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं, यह उनकी स्वाभाविक भक्तवत्सलता ही है।

इन पाँच महीनोंमें निरन्तर चैतन्य-चरित्रोंका चिन्तन होता रहा। उठते-बैठते, सोते-जागते, नहाते-धोते, खाते-पीते, भजन-ध्यान, पाठ-पूजा और जप करते सब समय चैतन्य ही साथ बने रहे। मैंने उन्हें शची-माताकी गोदमें बालकरूपसे देखा और गम्भीरा मन्दिरमें रोते हुए भी उनके दर्शन किये। प्यारे सखाकी तरह छायाकी तरह वे सदा मेरे साथ ही बने रहे। मैंने उन्हें खेलते देखा, पढ़ते देखा, पढ़ाते देखा, गया जाते देखा, आते देखा, रोते-चिल्लाते देखा, सङ्कीर्तन करते देखा, भावावेशमें देखा, भक्तोंकी पूजा ग्रहण करते देखा, उन्मादी देखा, विक्षिप्तावस्थामें देखा,

गृह त्याग करते देखा, संन्यास लेते हुए देखा, पुरी जाते हुए देखा, सार्वभौमका उद्धार करते देखा, दक्षिणके तीर्थोंमें भ्रमण करते देखा, रामानन्दजीके साथ कथोपकथन करते देखा, तीर्थ-यात्रा करते देखा, पुनः पुरीमें लौटते हुए देखा, भक्तोंसे बातें करते देखा, उनके यहाँ भिक्षा करते देखा, रथके आगे हाथ उठा-उठाकर नृत्य करते देखा, प्रतापरुद्ररायको प्रेम प्रदान करते हुए देखा, लीला करते देखा, नाचते हुए देखा, भक्तोंके साथ रोते हुए देखा, वृन्दावन जाते हुए देखा, शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर रहते हुए देखा, विष्णुप्रियाजीको पादुका प्रदान करते हुए देखा, रूप-सनातनसे बातें करते देखा, लौटते देखा, फिर वन-पथसे वृन्दावनकी ओर जाते देखा, काशीमें देखा, प्रयागमें देखा, वृन्दावनमें देखा, आते हुए देखा, श्रीमद्वल्लभाचार्यके साथ प्रेमवार्ता करते देखा, संन्यास-वेषधारी रूपको उपदेश देते देखा, काशीमें अत्यन्त नम्र हुए संन्यासी-सभामें उनकी मनमोहिनी सरल बातें सुनीं। वहाँ उन्हें परम विनयीकी भाँति सरल और सीधे संन्यासीके रूपमें देखा, वहाँसे चलते हुए उनके साथ-ही साथ पुरीमें आया। पुरीमें उनकी जिस-जिस भक्तसे भेंट हुई, जिस-जिससे उन्होंने बातें कीं मैं एक तटस्थ व्यक्ति-की भाँति दूर खड़ा हुआ उनकी बातें सुनता रहा। निरन्तर महाप्रभुके साथ रहनेसे मैं उनके सभी भक्तोंसे भलीभाँति परिचित हो गया, वे कैसे बातें करते थे, प्रभु उन्हें कैसे उत्तर देते थे, बात करते समय भक्तोंकी कैसी चेष्टा हो जाती थी, प्रभु-प्रेमके आवेशमें कैसी भङ्गी बनाकर बातें करते थे, इन बातोंको मैंने अपने सम्मुख ही प्रत्यक्ष रीतिसे देखा। अवधूत नित्यानन्द, राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप गोस्वामी, जगदानन्द पण्डित, वक्रेश्वर पण्डित, हरिदास, रूप, सनातन, जीव, गोपालभट्ट, रघुनाथदास तथा अन्यान्य जितने भी पृथक्-पृथक् स्थानोंके भक्त हैं, उन सबसे ही प्रगाढ़ परिचय हो गया। उपर्युक्त महानुभावोंमें-

से अब भी कोई आ जाय तो मुझे वे चिरपरिचित-से ही प्रतीत होंगे। यह मैं कुछ अभिमानकी नीयतसे नहीं, सत्य-सत्य घटना कह रहा हूँ कि लिखते समय मुझे कुछ भी पता नहीं रहता था कि मैं क्या लिख रहा हूँ और कहाँ लिख रहा हूँ ! हाथ कुछ लिखता जाता था, मैं प्रत्यक्ष उस घटनाको अपनी आँखोंके सामने होती हुई-सी देखता था, क्या लिखा गया और क्या नहीं लिखा गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं चलता। मानो कोई लिखनेवाला व्यक्ति और ही है और मैं तो उन लीलाओंका द्रष्टामात्र हूँ। चैतन्य मुझे जानते हैं, वे मुझे कहीं भी साथ ले जानेमें आपत्ति नहीं करते। यही नहीं किन्तु वे मुझे सदा अपने साथ रखते हैं और मैं उनसे छिपकर उनकी सभी बातें देख रहा हूँ यही भाव मेरा रहता। यह ग्रन्थ इतनी जल्दी कैसे लिखा गया, इसका मुझे स्वयं पता नहीं। क्या लिखा गया, इसे तो मैं जब ग्रन्थ छपकर मेरे पास आ जायगा तब पाठककी हैसियतसे पढ़कर बता सकूँगा। अबतक तो लिखते समय यही प्रतीत हुआ कि कोई लिखवा रहा है, हाथ लिख रहा है, मैं उस घटनाका आनन्द लूट रहा हूँ। रात्रिमें लिखे हुएकी जो कथा सुनाते उसमें मेरी दृष्टि 'एक भाषा-संशोधक' व्यक्तिकी-सी रहती, मानो किसीकी लिखी हुई भाषाको संशोधन कर रहा हूँ। 'का' की जगह 'की' क्यों कर दी। यहाँ यह विभक्ति उपयुक्त नहीं, अमुक शब्द छूट गया; बस इतना ही विचार रहता। इसलिये क्या लिखा गया इसे मैं नहीं जानता। पुस्तक छपकर आवेगी, तो वह जितनी ही पाठकोंको नयी होगी उतनी ही मेरे लिये भी। मैं भी उसे पढ़कर मनन करूँगा।

यह मैं फिर स्पष्ट बताये देता हूँ कि केवल 'चैतन्यभागवत' और 'चैतन्यचरितामृत' से केवल इसकी कथानक घटनाएँ ही ली गयी हैं, बाकी तो यह नानापुराणनिगमागमसम्मत जो ज्ञान है उसीके आधारपर लिखी गयी है। 'अमियनिमाईचरित' की मैंने केवल सूचीभर देखी

है। मैंने उसे बिल्कुल पढा ही नहीं। तब मैं कैसे कहूँ कि उसमे क्या है। घटना तो उन्होंने भी इन्हीं ग्रन्थोंसे ली होगी और क्या है, इसका मुझे कुछ पता नहीं।' 'चैतन्यमंगल' भावुक भक्तोंकी चीज है, इसलिये मुझ-जैसे शुष्क-चरितलेखकोंके वह कामकी विशेष नहीं है, इसलिये उसकी घटनाओंका आश्रय बहुत ही कम लिया गया है। घटना-क्रम देखनेके लिये पुस्तकें पढ़ता नहीं तो दिन-रात चिन्तनमें ही बीतता।

पहले इच्छा थी चैतन्यसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका विस्तारके साथ वर्णन करें, चैतन्यजीवनसे क्या सीखना चाहिये, इस बातको भूमिकामे बताऊँ तथा अन्यान्य बहुत-सी बातोंका यही भूमिकामें उल्लेख करूँ, किन्तु अब सोचा—'इन बातोंका चैतन्यचरित्रसे क्या सम्बन्ध! तुम यथा-शक्ति जैसे वे करावें घटनाओंका उल्लेख कर दो। पाठक स्वयं ही निर्णय कर लेंगे।' यही बात मुझे उचित भी प्रतीत हुई। इसलिये इन बातोंका भूमिकामें उल्लेख नहीं किया। चैतन्य-चरित्रसे हमें क्या सीखना चाहिये, चैतन्यदेवके भाव कैसे थे, उनका जीवन कितना विशुद्ध, प्रेममय, विरहमय और मस्तीमय था इन सभी बातोंको पाठक इस सम्पूर्ण पुस्तकको पढ़कर स्वयं ही समझनेकी चेष्टा करें। लेखककी बुद्धिके ही ऊपर अवलम्बित न रहें।

एक निवेदन उन परम पूज्य साम्प्रदायिक भक्तोंके श्रीचरणोंमें और करना है, जो श्रीचैतन्यदेवको साक्षात् श्रीकृष्ण और अवतारी समझकर मानते और पूजते हैं। उन परम श्रद्धास्पद महानुभावोंके पूज्य पादोंमें इतना ही निवेदन है कि इस पुस्तकमें कहीं भी इस बातकी चेष्टा नहीं की गयी कि उनकी मान्यतामें व्याघात हो किन्तु यह बात ध्रुव सत्य है, कि यह चरित्र भक्त गौराङ्गका है, भगवान् गौराङ्गका नहीं और परम भागवत भक्त ईश्वरका ही स्वरूप है, उसमें और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं। अतः वे भाई मेरे ऊपर क्रोध न करें। वे यही समझें कि यह पुस्तक

अधूरी ही है, चैतन्यदेवने भक्तवेश तो धारण किया ही था। भक्त बनकर ही उन्होंने लीला की थी। बस, इतना ही वे इस पुस्तकमें समझें। 'वे साक्षात्-परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम' थे इस बातका इस पुस्तकमें कहीं खण्डन नहीं किया गया है, साथ ही इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा भी नहीं की गयी है। लेखक इससे एकदम तटस्थ ही रहा है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रचारकी दृष्टिसे लिखा भी नहीं गया है। साम्प्रदायिक भावोंका प्रचार करनेवाले तो बहुत-से ग्रन्थ हैं, यह तो चैतन्यदेवको भक्त मानकर उनके त्याग, वैराग्य और प्रेमके भावोंको सार्वदेशिक बनानेकी नीयतसे लिखा गया है। 'चैतन्य-चरितावली' के चैतन्य किसी एक ही देश, एक ही सम्प्रदाय और एक ही भावके लोगोंके न होकर वे सार्वदेशिक हैं। उनके ऊपर सभीका समान अधिकार है, इसलिये साम्प्रदायिक बन्धु मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें।

मुझमें न तो विद्या है, न बुद्धि, चैतन्य-चरित्र लिखनेके लिये जितनी क्षमता, दक्षता, पटुता, सच्चरित्रता, एकनिष्ठा, सहनशीलता, भक्ति, श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है, उसका शतांश भी मैं अपनेमें नहीं पाता। फिर भी इस कार्यको करानेके लिये मुझे ही निमित्त बनाया गया है, वह उस काले चैतन्यकी इच्छा। वह तो मूकको भी वाचाल बना सकता है और पङ्गुसे भी पर्वतलङ्घन करा सकता है। इसलिये अपने सभी प्रेमी बन्धुओंसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे मेरे कुल-शील, विद्या-बुद्धिकी ओर ध्यान न दें। वे चैतन्यरूपी मधुर मधुके रसास्वादनसे ही अपनी रसनाको आनन्दमय बनावें।

श्रीस्वामी विष्णुपुरी नामक एक परमहंसजीने श्रीमद्भागवतसे कुछ सुन्दर-सुन्दर श्लोकोंको चुनकर 'भक्तिरत्नावली' नामक एक पुस्तक बनायी है। उसके अन्तमें उन्होंने जो श्लोक लिखा है उसे ही लिखकर मैं इस अन्तिम वक्तव्यको समाप्त करता हूँ—

एतस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोऽपि कुत्र भुवं
भव्ये भक्तजनस्य मे कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम्।
किंविद्याः शरघाः किमुज्ज्वलकुलाः किंपौरुषाः किंगुणा-
मन् किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नापीयते तन्मधु॥

'यद्यपि मुझ बुद्धिहीन व्यक्तिमें एक भी गुण नहीं है, तो भी मैं रसिक भक्तोंके बीचमें अवज्ञाको प्राप्त न हो सकूँगा। मधुर रसके उपासक भक्त तो मीठेके लोलुप होते हैं, वह मिठास किसके द्वारा लाया गया है, इसकी वे कुछ भी परवा नहीं करते। मधुकी मक्खीमें विद्या नहीं है, उसका उज्ज्वल कुलमें जन्म भी नहीं हुआ है, वह नन्ही-सी मक्खी स्वयं पुरुषार्थ करके मधु बनानेमें भी असमर्थ है, उसमे स्वयं कोई गुण भी नहीं। किन्तु वह छोटे-बड़े हजारों पुष्पोंसे थोड़ा-थोड़ा मधु लाकर उसे छत्ते-में इकट्ठा कर देती है। लोग फूलोंका नाम भूलकर उसे मक्खियोंका 'मधु' कहने लगते हैं। उनके इन अवगुणोंके कारण, रसिकजन क्या उस सुन्दर मधुका अनादर कर देते हैं? नहीं, वे उसे आदरके साथ सेवन करते हैं।' यही विनय इस क्षुद्र दीन-हीन-कंगाल लेखककी भी है। इति शम्।

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
वैशाखी पूर्णिमाका प्रातःकाल
सं० १९८९

भक्तचरणदासानुदास
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

छोटे हरिदासको स्त्री-दर्शनका दण्ड

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च
हा हन्त! हन्त! विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥*
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदयना० ८। २४)

सचमुच संसारके आदिसे सभी महापुरुष एक स्वरसे निष्किञ्चन, भगवद्भक्त अथवा ज्ञाननिष्ठ वैरागीके लिये कामिनी और काञ्चन—इन दोनों वस्तुओंको विष बताते आये हैं। उन महापुरुषोंने संसारके सभी प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका वर्गीकरण करके समस्त विषय-सुखोंका समावेश इन दो ही शब्दोंमें कर दिया है। जो इन दोनोंसे बच गया वह इस अगाध समुद्रके परले पार पहुँच गया, और जो इनमें फँस गया वह

---

* महाप्रभु चैतन्यदेव सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहते हैं—
खेदके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग इस असार संसाररूपी समुद्रके उस पार जाना चाहते हैं और जिनका भगवान्‌के भजनकी ओर झुकाव हो चला है, ऐसे निष्किञ्चन भगवद्भक्तके लिये स्त्रियों और विषयी पुरुषोंका स्वेच्छासे दर्शन करना विष खा लेनेसे भी बुरा है अर्थात् स्त्रियों और विषयी लोगोंके संसर्गकी अपेक्षा विष खाकर मर जाना सर्वश्रेष्ठ है।

मँझधारमें डुबकियाँ खाता बिलबिलाता रहा। कबीरदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

चलन चलन सब कोइ कहे, बिरला पहुँचे कोय।
एक 'कनक' अरु 'कामिनी', घाटी दुरलभ दोय॥

यथार्थमें इन दो घाटियोंका पार करना अत्यन्त ही कठिन है, इसीलिये महापुरुष स्वयं इनसे पृथक् रहकर अपने अनुयायियोंको कहकर, लिखकर, प्रसन्न होकर, नाराज होकर तथा भाँति-भाँतिसे घुमा-फिराकर इन्हीं दो वस्तुओंसे पृथक् रहनेका उपदेश देते है। त्याग और वैराग्यके साकार स्वरूप महाप्रभु चैतन्यदेवजी भी अपने विरक्त भक्तोंको सदा इनसे बचे रहनेका उपदेश करते और स्वयं भी उनपर कड़ी दृष्टि रखते। तभी तो आज त्यागिशिरोमणि श्रीगौरका यशसौरभ दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त हो रहा है। बजभूमिमें असंख्यों स्थान महाप्रभुके अनुयायियोंके त्याग-वैराग्यका अभीतक स्मरण दिला रहे हैं।

पाठक महात्मा हरिदासजीके नामसे तो परिचित ही होंगे। हरिदासजी वयोवृद्ध थे और सदा नाम-जप ही किया करते थे। इनके अतिरिक्त एक दूसरे कीर्तनिया हरिदास और थे। वे हरिदासजीसे अवस्थामें बहुत छोटे थे, गृहत्यागी थे और महाप्रभुको सदा अपने सुमधुर स्वरसे संकीर्तन सुनाया करते थे। भक्तोंमें वे 'छोटे हरिदास' के नामसे प्रसिद्ध थे। वे पुरीमें ही प्रभुके पास रहकर भजन-सङ्कीर्तन किया करते थे।

प्रभुके समीप बहुत-से विरक्त भक्त पृथक्-पृथक् स्थानोंमें रहते थे। वे सभी भक्तिके कारण कभी-कभी प्रभुको अपने स्थानपर बुलाकर भिक्षा कराया करते थे। भक्तवत्सल गौर उनकी प्रसन्नताके निमित्त उनके यहाँ चले आते थे और उनके भोजनकी प्रशंसा करते हुए भिक्षा भी पा लेते

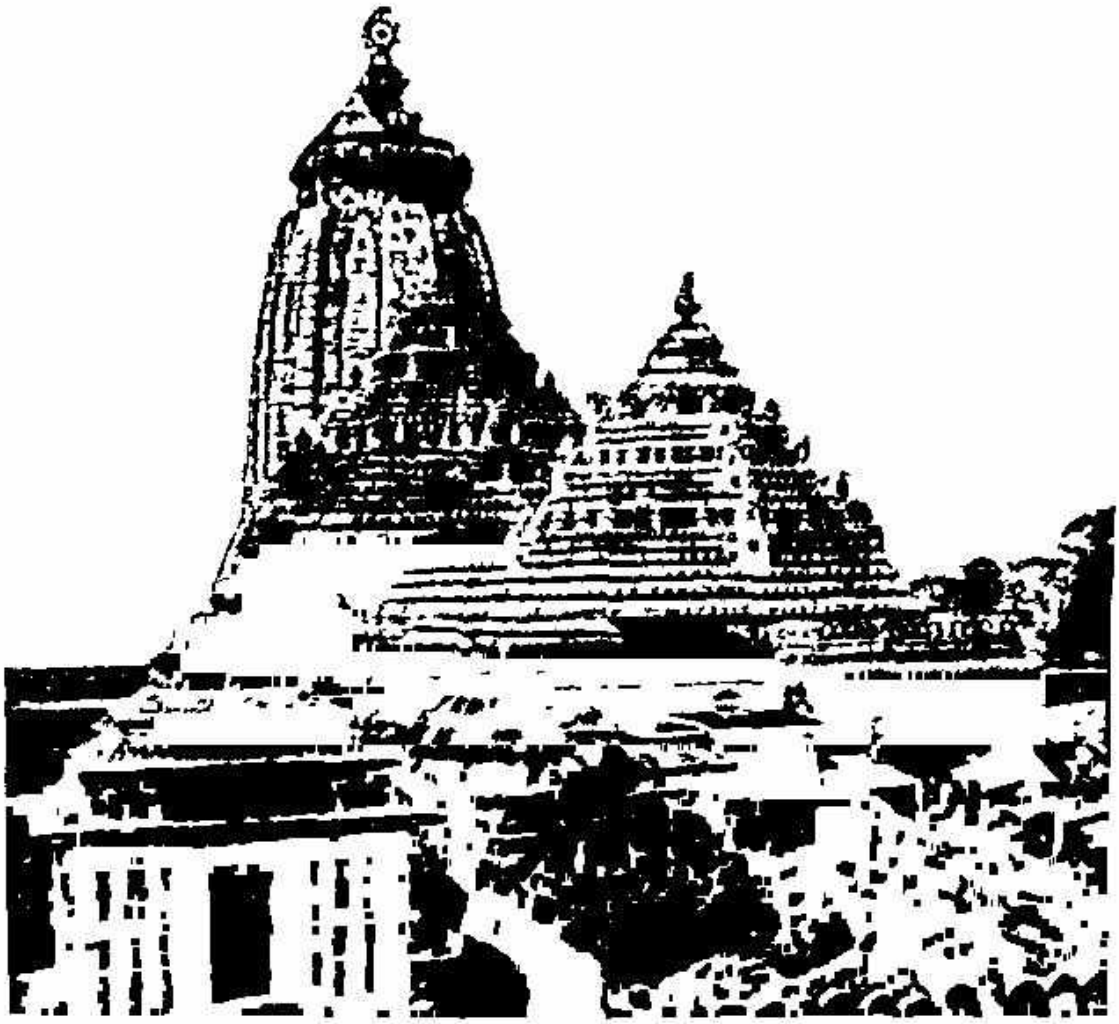

श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर

थे। वैसे भगवानाचार्य उनके एक विरक्त पण्डित मित्र थे। उनके लिये कलानिधि और संसारी पुरुष थे; उनके छोटे भाईके साथ भी भगवानाचार्य। वेदान्त श्रीकाशीजीसे वेदान्त पढ़कर आये थे। उनकी बहुत इच्छा थी कि वे प्रभुको अपना पढ़ा हुआ वेदान्त सुनाएँ, किन्तु वहाँ तो सब श्रीकृष्णकथाके श्रोता थे। किसे अरुचि उत्पन्न करना हो और दोनों पक्षोंकी एकताका निर्णय करना हो, वह वेदान्तपाठ सुने अथवा पढ़े। जहाँ श्रीकृष्णनामके ही अनेक अर्थ होते हैं, जहाँ भेदाभेदको अविचिन्त्य शक्ति मानना ही पड़ता है, जहाँ भेदाभेदको अविचिन्त्य शक्ति मानने वाले उपस्थित रहकर श्रीकृष्णकथाको ही प्रधानता दे रहे हैं, वहाँ उसके विरुद्ध विषयके विवादके प्रसङ्गको सुनना कौन क्यों पसंद करे? उन्हें स्वयं गोस्वामीके कहनेसे वे भट्टाचार्य महाशय अपने वेदान्तग्रन्थको लपेटकर ही रखकर अपने नियमस्थानको लौट गये। उनकी स्वयं दृष्टिसंकोचसे सदा नतमस्तक वहीं धुरीमें रह गये। उनकी स्वयं दृष्टिसंकोचसे सदा नतमस्तक रहनेकी प्रवृत्ति थी। वे दीन-दीनसे कभी-कभी प्रभुका निमन्त्रण करके उन्हें भिक्षा कराया करते थे।

जगन्नाथजीमें बने-बनाये पदार्थोंका भोग लगता है और भक्तगण के प्रसादको दूकानदार बेचते भी हैं। किन्तु जो कच्चा सिधा लेकर घरसे ही भगवान्‌को अर्पण किये जाते हैं, उन्हें पकाने का आनन्द अब कहते हैं, उसका अवसर ही लोग मान बना देते हैं; भक्तवत्सलने घरसर ही प्रभुके लिये भात बनानेका निश्चय किया।

पाठकोंको सम्भवतः शिखि माहितीका नाम स्मरण होगा। वे श्री-जगन्नाथजीके मन्दिरमें हिसाब-किताब लिखनेका काम करते थे। उनके छोटे भाईका एक छोटा भाई और माधवी नामकी एक बहिन थी। वे तीनों नीलाचलमें आनेपर सार्वभौम भट्टाचार्यने इन तीनों भाई-बहिनोंका परिचय कराया था। वे तीनों ही श्रीकृष्णनाम के और प्रभु

स्नेह रखते थे। माधवी दासी परम तपस्विनी और सदाचारिणी थी। इन तीनोंका ही महाप्रभुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग था। महाप्रभु माधवी दासीकी गणना राधाजीके गणोंमें करते थे। उन दिनों राधाजीके गणोंमें साढ़े तीन पात्रोंकी गणना थी—(१) स्वरूप-दामोदर, (२) राय रामानन्द, (३) शिखि माहिती और आधे पात्रमें माधवीदेवीकी गणना थी। इन तीनोंका महाप्रभुके प्रति अत्यन्त ही मधुर श्रीमतीजीका-सा सरस भाव था।

भगवानाचार्यजीने प्रभुके निमन्त्रणके लिये बहुत बढ़िया महीन शुक्ल चावल लानेके लिये छोटे हरिदासजीसे कहा। छोटे हरिदासजी माधवी दासीके घरमें भीतर चले गये और भीतर जाकर उनसे चावल माँगकर ले आये। आचार्यने विधिपूर्वक चावल बनाये। कई प्रकारके शाक, दाल, पना तथा और भी कई प्रकारकी चीजें उन्होंने प्रभुके निमित्त बनायीं। नियत समयपर प्रभु स्वयं आ गये। आचार्यने इनके पैर धोये और सुन्दर-स्वच्छ आसनपर बैठाकर उनके सामने भिक्षा परोसी। सुगन्धियुक्त बढ़िया चावलोंको देखकर प्रभुने पूछा—'भगवान! ये ऐसे सुन्दर चावल कहाँसे मँगाये?'

सरलताके साथ भगवानजीने कहा—'प्रभो! माधवीदेवीके यहाँसे मँगाये हैं।'

सुनते ही महाप्रभुके भावमें एक प्रकारका विचित्र परिवर्तन-सा हो गया। उन्होंने गम्भीरताके साथ पूछा—'माधवीके यहाँसे लेने कौन गया था?'

उसी प्रकार उन्होंने उत्तर दिया—'प्रभो! छोटे हरिदास गये थे।'

यह सुनकर महाप्रभु चुप हो गये और मन-ही-मन कुछ सोचने लगे। पता नहीं वे हरिदासजीकी किस बातसे पहलेसे ही असन्तुष्ट थे।

उनका नाम सुनते ही वे भिक्षासे उदासीन-से हो गये। फिर कुछ सोचकर उन्होंने भगवान्‌के प्रसादको प्रणाम किया और अनिच्छापूर्वक कुछ थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया। आज वे प्रसाद पाते समय सदाकी भाँति प्रसन्न नहीं दीखते थे, उनके हृदयमें किसी गहन विषयपर द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था। भिक्षा पाकर वे सीधे अपने स्थानपर आ गये।' आते ही उन्होंने अपने निजी सेवक गोविन्दको बुलाया। हाथ जोड़े हुए गोविन्द प्रभुके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसे देखते ही प्रभु रोषके स्वरमें कुछ दृढ़ताके साथ बोले—'देखना, आजसे छोटा हरिदास हमारे यहाँ कभी न आने पावेगा। यदि उसने भूलमें भी हमारे दरवाजेमें प्रवेश किया तो फिर हम बहुत अधिक असन्तुष्ट होंगे। मेरी इस बातका ध्यान रखना और दृढ़ताके साथ इसका पालन करना।'

गोविन्द सुनते ही सन्न रह गया। वह प्रभुकी इस आज्ञाका कुछ भी अर्थ न समझ सका। धीरे-धीरे वह प्रभुके पाससे उठकर स्वरूप गोस्वामीके पास चला गया। उसने सभी वृत्तान्त उनसे कह सुनाया। सभी प्रभुकी इस भीषण आज्ञाको सुनकर चकित हो गये। प्रभु तो ऐसी आज्ञा कभी नहीं देते थे। वे तो पतितोंसे भी प्रेम करते थे, आज यह बात क्या हुई। वे लोग दौड़े-दौड़े हरिदासके पास गये और उसे सब सुनाकर पूछने लगे—'तुमने ऐसा कोई अपराध तो नहीं कर डाला जिससे प्रभु इतने क्रुद्ध हो गये?' इस बातके सुनते ही छोटे हरिदासका मुख सफेद पड़ गया। उसके होश-हवास उड़ गये। अत्यन्त ही दुःख और पश्चात्तापके स्वरमें उसने कहा—'और तो मैंने कोई अपराध किया नहीं, हाँ, भगवानाचार्यके कहनेसे माधवी दासीके घरसे मैं थोड़े-से चावलोंकी भिक्षा अवश्य माँग लाया था।'

सभी भक्त समझ गये कि इस बातके अंदर अवश्य ही कोई गुप्त रहस्य है। प्रभु इसीके द्वारा भक्तोंको त्याग-वैराग्यकी कठोरता समझाना

ले आते थे, उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नता-पूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उनसे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

श्रृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरघ्नैः
विहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*

(सु० र० मां० ३६५। ७२)

---

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे सुनो। ( ) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रहना चाहिये, नहीं [illegible] सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने [illegible] के चित्तको भी, [illegible] लेती है।

चाहते हैं। सभी मिलकर प्रभुके पास गये और प्रभुके पैर पकड़कर प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! हरिदास अपने अपराधके लिये हृदयसे अत्यन्त ही दुखी हैं। उन्हें क्षमा मिलनी चाहिये। भविष्यमें उनसे ऐसी भूल कभी न होगी। उन्हें दर्शनोंसे वञ्चित न रखिये।'

प्रभुने उसी प्रकार कठोरताके स्वरमें कहा—'तुमलोग अब इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहो। मैं ऐसे आदमीका मुख भी देखना नहीं चाहता जो वैरागीका वेष बनाकर स्त्रियोंसे सम्भाषण करता है।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ स्वरूप गोस्वामीने कहा—'प्रभो! उनसे भूल हो गयी, फिर माधवीदेवी तो परम साध्वी भगवद्भक्तिपरायणा देवी हैं, उनके दर्शनोंके अपराधके ऊपर इतना कठोर दण्ड न देना चाहिये।'

प्रभुने दृढ़ताके साथ कहा—'चाहे कोई भी क्यों न हो! स्त्रियोंसे बात करनेकी आदत पड़ना ही विरक्त साधुके लिये ठीक नहीं। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा है कि अपनी सगी माता, बहिन और युवती लड़कीसे भी एकान्तमें बातें न करनी चाहिये। ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि अच्छे-अच्छे विद्वानोंका मन भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।' प्रभुका ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर और उनके स्वरमें दृढ़ता देखकर फिर किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ।

हरिदासजीने जब सुना कि प्रभु किसी भी तरह क्षमा करनेके लिये राजी नहीं हैं, तब तो उन्होंने अन्न-जल बिलकुल छोड़ दिया। उन्हें तीन दिन बिना अन्न-जलके हो गये, किन्तु प्रभु अपने निश्चयसे तिलभर भी न डिगे। तब तो स्वरूप गोस्वामीजीको बड़ी चिन्ता हुई। प्रभुके पास रहनेवाले सभी विरक्त भक्त डरने लगे। उन्होंने नेत्रोंसे तो क्या मनसे भी स्त्रियोंका चिन्तन करना त्याग दिया। कुछ विरक्त स्त्रियोंसे भिक्षा,

ले आते थे, उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नता-पूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उनसे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरघ्नैः
पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*

(सु० र० भां० ३६५। ७२)

---

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे सुनो; (विरक्त पुरुषोंको) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रहना चाहिये, नहीं रहना चाहिये, क्योंकि हरिणीके समान सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने तीक्ष्ण कटाक्ष बाणोंसे बड़े-बड़े महापुरुषोंके चित्तको भी, जो शान्तिके कवचसे ढँका हुआ है, शीघ्र ही अपनी ओर खींच लेती है।

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ? सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कामोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ? यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा। यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी-आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जाप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

इसलिये भैया ! मेरे जाने, वह भूखों मर ही क्यों न जाय अब मैं जो निश्चय कर चुका उससे हटूँगा नहीं ।' स्वरूपजी उदास मनसे लौट गये । उन्होंने सोचा—'प्रभु परमानन्दपुरी महाराजका बहुत आदर करते हैं, यदि पुरी उनसे आग्रह करें, तो सम्भवतया वे मान भी जायँ ।' यह सोचकर वे पुरी महाराजके पास गये । सभी भक्तोंके आग्रह करनेपर पुरी महाराज प्रभुसे जाकर कहनेके लिये राजी हो गये । वे अपनी कुटियामेंसे निकलकर प्रभुके शयनस्थानमें गये । पुरीको अपने यहाँ आते देखकर प्रभु उठकर खड़े हो गये और उनकी यथाविधि अभ्यर्चना करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया । बातों-ही बातोंमें पुरीजीने हरिदासका प्रसंग छेड़ दिया और कहने लगे—'प्रभो ! इन अल्प शक्तिवाले जीवोंके साथ ऐसी कड़ाई ठीक नहीं है । बस, बहुत हो गया, अब सबको पता चल गया, अब कोई भूलसे भी ऐसा व्यवहार न करेगा । अब आप उसे क्षमा कर दीजिये और अपने पास बुलाकर उसे अन्न-जल ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दीजिये ।'

पता नहीं प्रभुने उसका और भी पहले कोई ऐसा निन्द्य आचरण देखा था या उसके बहाने सभी भक्तोंको घोर वैराग्यकी शिक्षा देना चाहते थे । हमारी समझमें आ ही क्या सकता है ! महाप्रभु पुरीके कहनेपर भी राजी नहीं हुए । उन्होंने उसी प्रकार दृढ़ताके स्वरमें कहा—'भगवन् ! आप मेरे पूज्य हैं, आपकी उचित-अनुचित सभी प्रकारकी आज्ञाओंका पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, किन्तु न जाने क्यों, इस बातको मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता । आप इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहें ।'

पुरी महाराजने अपने वृद्धपनेके सरल भावसे अपना अधिकार-सा दिखाते हुए कहा—'प्रभो ! ऐसा हठ ठीक नहीं होता, जो हो गया, सो

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ! सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कामोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते है। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ? यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा। यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जाप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

कीर्तनिया हरिदासजीकी समझमें यह बात आ गयी, उसने भक्तोंके आग्रहसे अन्न-जल ग्रहण कर लिया। वह नित्यप्रति दर्शनोंको मन्दिरमें जाते समय दूरसे प्रभुके दर्शन कर लेता और अपनेको अभागी समझता हुआ कैदीकी तरह जीवन बिताने लगा। उसे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था, किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं होती थी, गाना-बजाना उसने एकदम छोड़ दिया। सदा वह अपने असद् व्यवहारके विषयमें ही सोचता रहता। होते-होते उसे संसारसे एकदम वैराग्य हो गया। ऐसा प्रभुकृपाशून्य जीवन बिताना उसे भार-सा प्रतीत होने लगा। अब उसे भक्तोंके सामने मुख दिखानेमें भी लज्जा होने लगी। इसलिये उसने इस जीवनका अन्त करनेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया।

एक दिन अरुणोदय कालमें वह उठा। प्रभु उस समय समुद्र-स्नान करनेके निमित्त जाया करते थे। स्नानको जाते हुए प्रभुके उसने दर्शन किये और पीछेसे उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाकर और कुछ वस्त्रमें बाँधकर श्रीनीलाचलसे चल पड़ा। काशी होता हुआ वह त्रिवेणी-तटपर पहुँचा। जहाँपर गङ्गा-यमुनाके सितासित सलिलका सम्मिलन होता है, उसी स्थानपर धारामें खड़े होकर उसने उच्चस्वरसे कहा—'जिस शरीरने महाप्रभुकी इच्छाके विरुद्ध बर्ताव किया है, हे माता जाह्नवी! हे पतितपावनी श्रीकृष्णसेविता कालिन्दी माँ! दोनों ही माता मिलकर इस अपवित्र शरीरको अपने परम पावन प्रवाहमें बहाकर पावन बना दो। हे अन्तर्यामी प्रभो! यदि मैंने जीवनमें कुछ भी थोड़ा बहुत सुकृत किया हो तो उसके फलस्वरूप मुझे जन्म-जन्मान्तरोंतक आपके चरणोंके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो।' यह कहकर वह जोरोंसे प्रवाहकी ओर लपका। उसकी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके निमित्त दोनों ही माताएँ एक होकर अपने तीक्ष्ण प्रवाहके साथ बहाकर उसके शरीरको साथ ले गयीं।

कोई गौड़ीय वैष्णव भक्त उसकी इन बातोंको सुन रहा था, उसने नवद्वीपमें आकर श्रीवास पण्डितसे यह समाचार सुनाया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'हरिदासने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म कर डाला ?'

रथयात्राके समय सदाकी भाँति वे इस बार भी अद्वैताचार्य आदि भक्तोंके साथ नीलाचल पधारे तब उन्होंने प्रभुसे पूछा—'प्रभो ! छोटा हरिदास कहाँ है ?'

प्रभुने हँसकर कहा—'कहीं अपने दुष्कर्मका फल भोग रहा होगा।'

तब उन्होंने उस वैष्णवके मुखसे जो बात सुनी थी, वह कह सुनायी। इसके पूर्व ही भक्तोंको हरिदासजीकी आवाज एकान्तमें प्रभुके समीप सुनायी दी थी, मानो वे सूक्ष्म शरीरसे प्रभुको गायन सुना रहे हों। तब बहुतोंने यही अनुमान किया था कि हरिदासने विष खाकर या और किसी भाँति आत्मघात कर लिया है और उसीके परिणामस्वरूप उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है या ब्रह्मराक्षस हुआ है, उसी शरीरसे वह प्रभुको गायन सुनाता है। किन्तु कई भक्तोंने कहा—'जो इतने दिन प्रभुकी सेवामें रहा हो और नित्य श्रीकृष्णकीर्तन करता रहा हो, उसकी ऐसी दुर्गति होना सम्भव नहीं। अवश्य ही वह गन्धर्व बनकर अलक्षित भावसे प्रभुको गायन सुना रहा है।' आज श्रीवास पण्डितसे निश्चितरूपसे हरिदासजीकी मृत्युका समाचार सुनकर सभीको परम आश्चर्य हुआ और सभी उनके गुणोंका बखान करने लगे। प्रभुने दृढ़तायुक्त प्रसन्नताके स्वरमें कहा—'साधु होकर स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवालोंको ऐसा ही प्रायश्चित्त ठीक भी हो सकता है। हरिदासने अपने पापके उपयुक्त ही प्रायश्चित्त किया।'

धन माँगनेवाले भृत्यको दण्ड

धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां
भवति हृदि सदैवानन्दकारीतरेषाम्।
मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्तः
जनयति च सपत्न्याह्लादमन्यत्र गात्रे ॥*

(सु० र० भां० ६७। १८)

प्रेमरूपी धनकी प्राप्तिमें ही जो सदा यत्नशील रहते हैं, वे उदर-पूर्तिके लिये अन्न और अङ्गरक्षाके लिये साधारण वस्त्रोंके अतिरिक्त किसी प्रकारके धनका संग्रह नहीं करते। धनका स्वभाव है लोभ उत्पन्न करना और लोभसे द्वेषकी प्रगाढ़ मित्रता है। जहाँ लोभ रहेगा वहाँ दूसरोंके प्रति द्वेष अवश्य विद्यमान रहेगा। द्वेषसे घृणा होती है और पुरुषोंके प्रति घृणा करना यही नाशका कारण है। इन्हीं सब बातोंको सोचकर तो त्यागी महापुरुष द्रव्यका स्पर्श नहीं करते। वे जहाँतक हो सकता है, द्रव्यसे दूर ही रहते हैं। गृहस्थियोंका तो द्रव्यके बिना काम चलना ही कठिन है, उन्हें तो गृहस्थी चलानेके लिये द्रव्य रखना ही होगा, किन्तु

---

* विषयोंके त्यागसे ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा जिन्हें दृढ़ विश्वास हो गया है उन औचित्यके उपासक महापुरुषोंको दूसरोंके द्वारा दिया हुआ धन भी दुःखदायी ही प्रतीत होता है, वही धन यदि विषयी पुरुषोंके लिये दे दिया जाय तो उनके हृदयमें वह परम आनन्द और आह्लाद उत्पन्न करनेवाला होता है, जिस प्रकार सुगन्धित मलयाचल चन्दनका रस आँखोंमें डालनेसे दुःखदायी प्रतीत होता है और अन्य अङ्गोंमें लगानेसे शीतलता प्रदान करनेवाला होता है।

उन्हें भी अधर्मसे या अनुचित उपायोंसे धनार्जन करनेकी प्रवृत्तिको एक-दम त्याग देना चाहिये। धर्मपूर्वक न्यायोचित रीतिसे प्राप्त किया हुआ धन ही फलीभूत होता है और वही उन्हें संसारी बन्धनोंसे छुटाकर धीरे-धीरे परमार्थकी ओर ले जाता है। जो संखिया वैसे ही बिना सोचे-विचारे खा लिया जाय तो वह मृत्युका कारण होता है और उसे ही वैद्यके कथनानुसार शोधकर खाया जाय तो वह रसायनका काम करता है, उससे शरीर नीरोग होकर सम्पूर्ण अङ्ग पुष्ट होते हैं। इसलिये वैद्यरूपी शास्त्रकी बतायी हुई धर्मरूपी विधिसे सेवन किये जानेवाला विषरूपी धन भी अमरता प्रदान करनेवाला होता है। महाप्रभु चैतन्यदेव जिस प्रकार स्त्रीसंगियोंसे डरते थे, उसी प्रकार धनलोलुपोंसे भी वे सदा सतर्क रहते थे। जो स्त्रीसेवन अविधिपूर्वक कामवासनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, शास्त्रोंमें उसीकी निन्दा और उसी कामिनीको नरकका द्वार बताया है। जिसका पाणिग्रहण शास्त्रमर्यादाके साथ विधिपूर्वक किया गया है, वह तो कामिनी नहीं, धर्मपत्नी है। उसका उपयोग कामवासनातृप्ति न होकर धार्मिक कृत्योंमें सहायता प्रदान करना है। ऐसी स्त्रियोंका सङ्ग तो प्रवृत्तिमार्गवाले गृहस्थियोंके लिये परम धर्म है। इसी प्रकार धर्मपूर्वक, विधियुक्त, विनय और पात्रताके साथ उपार्जन किया हुआ धन धर्म तथा सुखका प्रधान कारण होता है। उस धनको कोई अन्यायसे अपनाना चाहता है तो वह विषयी है, ऐसे विषयी लोगोंका साथ कभी भी न करना चाहिये।

श्रीअद्वैताचार्य गृहस्थी थे, इस बातको तो पाठक जानते ही होंगे। उनके दो स्त्रियाँ थीं, छः पुत्र थे, दो-चार दासी-दास भी थे, बड़े पुत्र अच्युतानन्दको छोड़कर सभी घर-गृहस्थीवाले थे। सारांश कि उनका परिवार बहुत बड़ा था। इतना बड़ा परिवार होनेपर भी वे भक्त थे। भक्तोंको बहुधा लोग बावला कहा करते हैं। एक कहावत भी है—

भक्त बावले ज्ञानी अल्हड़, योगी बड़े निखट्टू।
कर्मकांडी ऐसे डोलें, ज्यों भाड़ेके टट्टू॥

अस्तु, बावले भक्तोंके यहाँ 'यह मेरा है, यह तेरा है' का तो हिसाब ही नहीं। जो भी आओ, खूब खाओ। जिसे जिस चीजकी आवश्यकता हो, ले जाओ। सबके लिये उनका दरवाजा खुला रहता है। वास्तवमें उदारता इसीका नाम है। जिसके यहाँ मित्र, अतिथि, स्वजन और अन्य जन बिना संकोचके घरकी भाँति रोज भोजन करते हैं, जिसका हाथ सदा खुला रहता है, वही सच्चा उदार है, वही श्रीकृष्ण-प्रेमका अधिकारी भी होता है। जिसे पैसोंसे प्रेम है, जो द्रव्यका लोभी है, वह भगवान्‌से प्रेम कर ही कैसे सकता है! वैष्णवोंके लिये अद्वैताचार्य-जीका घर धर्मशाला ही नहीं किन्तु निःशुल्क भोजनालय भी था! जो भी आवे जबतक रहना चाहे आचार्यके घर पड़ा रहे। आचार्य सत्कार-पूर्वक उसे खिलाते-पिलाते थे। इस उदार वृत्तिके कारण आचार्यपर कुछ कर्ज भी हो गया था।

उनके यहाँ बाउल विश्वास नामका एक भृत्य था। आचार्यके चरणोंमें उसकी अनन्य श्रद्धा थी और वह उनके परिवारकी सदा तन-मनसे सेवा किया करता था। वह आचार्यके साथ-साथ पुरी भी जाया करता था। आचार्यको द्रव्यका संकोच होता है, इससे उसे मानसिक दुःख होता था, उनके ऊपर कुछ ऋण भी हो गया है, इसका उसे स्वयं ही सोच था! पुरीमें उसने प्रभुका इतना अधिक प्रभाव देखा। महाराज प्रतापरुद्रजी प्रभुको ईश्वरतुल्य मानते थे और गुरुभावसे उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करनेके लिये तत्पर रहते थे। विश्वासने सोचा—'महाराजसे ही आचार्यके ऋणपरिशोधके लिये क्यों न कहा जाय? यदि महाराजके कानोंतक यह बात पहुँच गयी तो सदाके लिये इनके व्ययका सुदृढ़ प्रबन्ध हो जायगा।' यह सोचकर

उसने आचार्यसे छिपकर स्वयं जाकर महाराज प्रतापरुद्रजीको एक प्रार्थनापत्र दिया। उसमें उसने आचार्यको साक्षात् ईश्वरका अवतार बताकर उनके ऋणपरिशोध और व्ययका स्थायी प्रबन्ध कर देनेकी प्रार्थना की।

महाराजने वह पत्र प्रभुके पास पहुँचा दिया। पत्रको पढ़ते ही प्रभु आश्चर्यचकित हो गये। उनके प्रभावका इस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है, यह सोचकर उन्हें विश्वासके ऊपर रोष आया। उसी समय गोविन्दको बुलाकर प्रभुने कठोरताके साथ आज्ञा दी—'गोविन्द! देखना आजसे बाउल विश्वास हमारे यहाँ न आने पावे। वह हमारे और आचार्यके नामको बदनाम करनेवाला है।' गोविन्द सिर नीचा किये हुए चुपचाप लौट गया। उसने नीचे जाकर ठहरे हुए भक्तोंसे कहा। भक्तोंके द्वारा आचार्यको इस बातका पता लगा। वे जल्दीसे प्रभुके पास दौड़े आये और उनके पैर पकड़कर गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! यह अपराध तो मेरा है। बाउलने जो भी कुछ किया है, मेरे ही लिये किया है। इसके लिये उसे दण्ड न देकर मुझे दण्ड दीजिये। अपराधके मूल कारण तो हमीं है।' महाप्रभु आचार्यकी प्रार्थनाकी उपेक्षा न कर सके। आचार्यके अवतारी होनेमे उन्हे कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अवतारी होकर क्षुद्र पैसोंके लिये विषयी पुरुषोंसे प्रार्थना की जाय यह अवतारी पुरुषोंके लिये महान् कलङ्ककी बात है। आवश्यकता पड़नेपर याच्ञा करना पाप नहीं है, किन्तु अवतारपनेकी आड़मे द्रव्य माँगना महापाप है, बेचारा बावला बाउल क्या जाने, उस अशिक्षित नौकरको इतनी समझ कहाँ, उसने तो अपनी तरफसे अच्छा ही समझकर यह काम किया था। प्रभुने अज्ञानमें किये हुए उसके अपराधको क्षमा कर दिया और भविष्यमें फिर ऐसा कभी न करनेके लिये उसे समझा दिया।

गोपीनाथ पट्टनायक सूलीसे बचे

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

(श्रीमद्भा० २।३।१०)

पाठकवृन्द राय रामानन्दजीके पिता राजा भवानन्दजीको तो भूले ही न होंगे। उनके राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक और वाणीनाथ आदि पाँच पुत्र थे, जिन्हें प्रभु पाँच पाण्डवोंकी उपमा दिया करते थे और भवानन्दजीका पाण्डु कहकर सम्मान और सत्कार किया करते थे। वाणीनाथ तो सदा प्रभुकी ही सेवामें रहते थे। राय रामानन्द पहले विद्यानगरके शासक थे, पीछेसे उस कामको छोड़कर वे सदा पुरीमें ही प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट निवास किया करते थे और महाप्रभुको निरन्तर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण कराते रहते। उनके छोटे भाई गोपीनाथ पट्टनायक 'माल जाठ्या दण्डपाट' नामक उड़ीसा राज्यान्तर्गत एक प्रान्तके शासक थे। ये बड़े शौकीन थे, इनका रहन-सहन, ठाट-बाट सब राजसी ढंगका ही था। धन पाकर जिस प्रकार प्रायः लोग विषयी बन जाते हैं, उसी प्रकारके ये विषयी बने हुए थे। विषयी लोगोंकी इच्छा सर्वभुक् अग्निके समान होती है, उसमें धनरूपी ईंधन कितना भी क्यों न डाल दिया जाय उसकी तृप्ति नहीं होती। तभी तो विषयी पुरुषोंको शास्त्रकारोंने अविश्वासी

---

* चाहे तो निष्काम भावसे, चाहे सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी इच्छासे अथवा मोक्षकी ही इच्छासे बुद्धिमान् पुरुषको सर्वदा तीव्र भक्तियोगसे उन परम पुरुष श्रीकृष्णकी [नामस्मरण, संकीर्तन और लीला-कथारूपी यशोद्वारा] आराधना करते रहना चाहिये।

कहा है। विषयी लोगोंके वचनोंका कभी विश्वास न करना चाहिये। उनके पास कोई धरोहरकी चीज रखकर फिर उसे प्राप्त करनेकी आशा व्यर्थ है। विषय होता ही तब है जब हृदयमें अविवेक होता है और अविवेकमें अपने-पराये या हानि-लाभका ध्यान नहीं रहता। इसलिये विषयी पुरुष अपनेको तो आपत्तिके जालमें फँसाता ही है साथ ही अपने संसर्गियोंको भी सदा क्लेश पहुँचाता रहता है। विषयियोंका संसर्ग होनेसे किसे क्लेश नहीं हुआ है? इसीलिये नीतिकारोंने कहा है—

दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरम्पराया
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र।
लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः॥

'इसमें विशेष कहने-सुननेकी बात ही क्या है? यह तो सनातनकी रीति चली आयी है कि, विषयी पुरुषोंसे संसर्ग रखनेसे अच्छे पुरुषोंको भी क्लेश होता ही है। देखो, उस विषयी रावणने तो जनकनन्दिनी सीताजी-का हरण किया और बन्धनमें पड़ा बेचारा समुद्र।' साथियों-के दुःख-सुखका उपभोग सभीको करना होता है। वह सम्बन्धी ही नहीं जो सुखमें सम्मिलित रहता है और दुःखमें दूर हो जाता है। किन्तु एक बात है, यदि खोटे पुरुषोंका सौभाग्यवश किसी महापुरुषसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो जाता है तो उसके इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। साधुपुरुष तो सदा विषयी पुरुषोंसे दूर ही रहते हैं, किन्तु विषयी किसी भी प्रकारसे उनके शरणापन्न हो जाय, तो फिर उसका बेड़ा पार ही समझना चाहिये। महापुरुषोंको यदि किसीके दुःखको देख-कर दुःख भी होता है तो फिर वह उस दुःखसे छूट ही जाता है, जब संसारी दुःख महापुरुषोंकी तनिक-सी इच्छासे छूट जाते हैं, तब शुद्ध हृदयसे और श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो उनकी शरणमें जाता है उसका कल्याण तो होगा ही—

इसमें कहना ही क्या ? राजा भवानन्दजी शुद्ध हृदयसे प्रभुके भक्त थे। उनके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक महान् विषयी थे। पिताका महाप्रभुके साथ सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धसे उनका प्रभुके साथ थोड़ा-बहुत सम्बन्ध था। इस सम्बन्धीके सम्बन्धीके सम्बन्ध-संसर्गके ही कारण वे सूलीपर चढ़े हुए भी बच गये। महापुरुषोंकी महिमा ऐसी ही है।

गोपीनाथ एक प्रदेशके शासक थे। सम्पूर्ण प्रान्तकी आय उन्हींके पास आती थी। वे उसमेंसे अपना नियत वेतन रखकर शेष रुपयोंको राज-दरबारमें भेज देते थे। किन्तु विषयियोंमें इतना संयम कहाँ कि वे दूसरे-के द्रव्यकी परवा करें ! हम बता ही चुके हैं कि, अविवेकके कारण विषयी पुरुषोंको अपने परायेका ज्ञान नहीं रहता। गोपीनाथ पट्टनायक भी राजकोषमें भेजनेवाले द्रव्यको अपने ही खर्चमें व्यय कर देते। इस प्रकार उड़ीसाके महाराजके दो लाख रुपये उनकी ओर हो गये। महाराजने इनसे अपने रुपये माँगे, किन्तु इनके पास रुपये कहाँ ! उन्हें तो वेश्या और कलारीने अपना बना लिया। गोपीनाथने महाराजसे प्रार्थना की कि, 'मेरे पास नकद रुपये तो हैं नहीं। मेरे पास ये दस-बीस घोड़े है, कुछ और भी सामान है, इसे जितनेमें समझें, ले लें, शेष रुपये मैं धीरे-धीरे देता रहूँगा।' महाराजने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और घोड़ोंकी कीमत निश्चय करनेके निमित्त अपने एक लड़केको भेजा।

वह राजकुमार बड़ा बुद्धिमान् था, उसे घोड़ोंकी खूब परख थी, वह अपने दस-बीस नौकरोंके साथ घोड़ोंकी कीमत निश्चय करने वहाँ गया। राजकुमारका स्वभाव था कि वह ऊपरको सिर करके बार-बार इधर-उधर मुँह फिरा-फिराकर बातें किया करता था। राजपुत्र था, उसे अपने राजपाट और अधिकारका अभिमान था, इसलिये कोई उसके सामने बोलतातक नहीं था। उसने चारों ओर घोड़ोंको देख-भाल-कर मूल्य निश्चय करना आरम्भ किया। जिन्हें गोपीनाथ दो-चार हजारके

मूल्यका समझते थे, उनका उसने बहुत ही थोड़ा मूल्य बताया। महाराज गोपीनाथको भवानन्दजीके सम्बन्धसे पुत्रकी भाँति मानते थे, इसलिये वे बड़े ढीठ हो गये थे। राजपुत्रोंको वे कुछ समझते ही नहीं थे। जब राजपुत्रने दो-चार घोड़ोंका ही इतना कम मूल्य लगाया, तब गोपीनाथसे न रहा गया। उन्होंने कहा—'श्रीमन्! यह तो आप बहुत ही कम मूल्य लगा रहे हैं!'

राजपुत्रने कुछ रोषके साथ कहा—'तुम क्या चाहते हो, दो लाख रुपये इन घोड़ोंमें ही बेबाक कर दें? जितनेके होंगे उतने ही तो लगावेंगे!'

गोपीनाथने अपने रोषको रोकते हुए कहा—श्रीमन्! घोड़े बहुत बढ़िया नस्लके हैं। इतना मूल्य तो इनके लिये बहुत ही कम है।'

इस बातसे कुछ कुपित होकर राजपुत्रने कहा—'दुनियाभरके रद्दी घोड़े इकट्ठे कर रखे हैं और चाहते हैं इन्हें ही देकर दो लाख रुपयोंसे बेबाक हो जायँ। यह नहीं होनेका। घोड़े जितनेके होंगे, उतनेके ही लगाये जायँगे।'

राजप्रसादप्राप्त मानी गोपीनाथ अपने इस अपमानको सहन नहीं कर सके। उन्होंने राजपुत्रकी उपेक्षा करते हुए धीरेसे व्यंगके स्वरमें कहा—'कम-से-कम मेरे ये घोड़े तुम्हारी तरह ऊपर मुँह उठाकर इधर-उधर तो नहीं देखते।' उनका भाव था कि तुम्हारी अपेक्षा घोड़ोंका मूल्य अधिक है।

आत्मसम्मानी राजपुत्र इस अपमानको सहन नहीं कर सका। वह क्रोधके कारण जलने लगा। उस समय तो उसने कुछ नहीं कहा। उसने सोचा कि यहाँ हम कुछ कहें तो बात बढ़ जाय और न जाने महाराज उसका क्या अर्थ लगावें। शासनमें अभी हम स्वतन्त्र नहीं हैं, यही सोचकर वह वहाँसे चुपचाप महाराजके पास चला गया। वहाँ जाकर उसने

गोपीनाथकी बहुत-सी शिकायतें करते हुए कहा—'पिताजी ! वह तो महा-विषयी है, एक भी पैसा देना नहीं चाहता । उलटे उसने मेरा घोर अपमान किया है । उसने मेरे लिये ऐसी बुरी बात कही है, जिसे आपके सामने कहनेमें मुझे लज्जा आती है । सब लोगोंके सामने वह मेरी ऐसी निन्दा कर जाय ? नौकर होकर उसका ऐसा भारी साहस ? यह सब आपकी ही ढीलका कारण है । उसे जबतक चांगपर न चढ़ाया जायगा तबतक रुपये वसूल नहीं होंगे, आप निश्चय समझिये ।'

महाराजने सोचा—'हमें तो रुपये मिलने चाहिये । सचमुच जब-तक उसे भारी भय न दिखाया जायगा, तबतक वह रुपये नहीं देनेका । एक बार उसे चागपर चढ़ानेकी आज्ञा दे दें । सम्भव है इस भयसे रुपये दे दे । नहीं तो पीछे उसे अपनी विशेष आज्ञासे छोड़ देंगे । भवानन्दके पुत्रको भला हम दो लाख रुपयोंके पीछे चांगपर थोड़े ही चढ़वा सकते हैं । अभी कह दें, इससे राजकुमारका क्रोध भी शान्त हो जायगा और रुपये भी सम्भवतया मिल ही जायँगे ।' यह सोचकर महाराजने कह दिया—'अच्छा भाई, वही काम करो, जिससे उससे रुपये मिलें । चढ़वा दो उसे चागपर ।'

बस, फिर क्या था ! राजपुत्रने फौरन आज्ञा दी कि गोपीनाथको यहाँ बाँधकर लाया जाय । क्षणभरमें उसकी आज्ञा पालन की गयी । गोपीनाथ बाँधकर चांगके समीप खड़े किये गये । अब पाठकोंको चागका भी परिचय करा दें कि यह चाग क्या बला है । असलमें चाग एक प्रकारसे सूलीका ही नाम है । सूलीमें और चागमें इतना ही अन्तर है कि सूली गुदामे होकर डाली जाती है और सिरमें होकर पार निकाल ली जाती है । इससे जल्दी प्राण नहीं निकलते—बहुत देरमें तड़प-तड़पकर प्राण निकलते हैं । चांग उससे कुछ सुखकर प्राणनाशक किया है । एक बड़ा-सा मञ्च होता है । उस मञ्चके नीचे भागमें

तीक्ष्ण धारवाला एक बहुत बड़ा खड्ग लगा रहता है। उस मञ्चपरसे अपराधीको इस ढंगसे फेंकते हैं कि जिससे उसपर गिरते ही उसके प्राणोंका अन्त हो जाय। इसीका नाम 'चाग चढाना' है। बड़े-बड़े अपराधियोंको ही चांगपर चढ़ाया जाता है।

'गोपीनाथ पट्टनायक चांगपर चढ़ाये जायँगे'—इस बातका हल्ला चारों ओर फैल गया। सभी लोगोंको इस बातसे महान् आश्चर्य हुआ। महाराज जिन राजा भवानन्दको अपने पिताके समान मानते थे, उनके पुत्रको वे चांगपर चढ़ा देंगे, सचमुच इन राजाओंके चित्तकी बात समझी नहीं जाती, ये क्षणभरमें प्रसन्न हो सकते हैं और पलभरमें क्रुद्ध। इनका कोई अपना नहीं। ये सब कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बातें कहते हुए सैकड़ों पुरुष महाप्रभुके शरणापन्न हुए और सभी हाल सुनाकर प्रभुसे उनके अपराध क्षमा करा देनेकी प्रार्थना करने लगे।

प्रभुने कहा—'भाई! मैं कर ही क्या सकता हूँ! राजाकी आज्ञाको टाल ही कौन सकता है! ठीक ही है, विषयी लोगोंको ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये। जब वह राजद्रव्यको भी अपने विषय-भोगमें उड़ा देता है तो राजाको उससे क्या लाभ! दो लाख रुपये कुछ कम तो होते ही नहीं। जैसा उसने किया, उसका फल भोगे। मैं क्या करूँ!'

भवानन्दजीके सगे-सम्बन्धी और स्नेही प्रभुसे भाँति-भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगे। प्रभुने कहा—'भाई! मैं तो भिक्षुक हूँ, यदि मेरे पास दो लाख रुपये होते तो देकर उसे छुड़ा लाता, किन्तु मेरे पास तो दो कौड़ी भी नहीं। मैं उसे छुड़ाऊँ कैसे! तुम लोग जगन्नाथजीमें जाकर प्रार्थना करो, वे दीनानाथ हैं, सबकी प्रार्थनापर अवश्य ही ध्यान देंगे।'

इतनेमें ही बहुत-से पुरुष प्रभुके समीप और भागते हुए आये। उन्होंने संवाद दिया कि 'भवानन्द, वाणीनाथ आदि सभी परिवारके लोगोंको राजकर्मचारी बाँधकर लिये जा रहे हैं।'

सभी लोगोंको आश्चर्य हुआ। भवानन्दजीके बन्धनका समाचार सुनकर तो प्रभुके सभी विरक्त और अन्तरङ्ग भक्त तिलमिला उठे। स्वरूप-दामोदरजीने अधीरताके साथ कहा—'प्रभो! भवानन्द तो सपरिवार आपके चरणोंके सेवक हैं उनको इतना दुःख क्यों? आपके कृपापात्र होते हुए भी वे वृद्धावस्थामें इतना क्लेश सहें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। इससे आपकी भक्तवत्सलताकी निन्दा होगी।'

महाप्रभुने कुछ प्रेमयुक्त रोषके स्वरमें कहा—'स्वरूप! तुम इतने समझदार होकर भी ऐसी बच्चोंकी-सी बातें कर रहे हो! तुम्हारी इच्छा है कि मैं राजदरबारमें जाकर भवानन्दके लिये राजासे प्रार्थना करूँ कि वे इन्हें मुक्त कर दें! अच्छा, मान लो मैं जाऊँ भी और कहूँ भी और राजाने कह दिया कि आप ही दो लाख रुपये दे जाइये, तब मैं क्या उत्तर दूँगा! राजदरबारमें साधु-ब्राह्मणोंको तो कोई घास-फूँसकी तरह भी नहीं पूछता।'

स्वरूप गोस्वामीने कहा—'आपसे राजदरबारमें जानेके लिये कहता ही कौन है! आप तो अपनी इच्छामात्रसे ही विश्व-ब्रह्माण्डको उलट-पुलट कर सकते हैं। फिर भवानन्दको सपरिवार इस दुःखसे बचाना तो साधारण-सी बात है। आपको बचाना ही पड़ेगा, न बचावें तो आपकी भक्तवत्सलता ही झूठी हो जायगी, वह झूठी है नहीं। भवानन्द आपके भक्त हैं और आप भक्तवत्सल हैं, इस बातमें तो किसीको सन्देह ही नहीं।'

राजदरबारमें चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। सभीके मुखोंपर गोपीनाथके चांगपर चढ़नेकी ही बात थी। सभी इस असम्भव और

अद्भुत घटनाके कारण भयभीत-से प्रतीत होते थे। समाचार पाकर महाराजके प्रधान मन्त्री चन्दनेश्वर महापात्र महाराजके समीप पहुँचे और अत्यन्त ही विस्मय प्रकट करते हुए कहने लगे—'श्रीमन्! यह आपने कैसी आज्ञा दे दी? भवानन्दके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक तो आपके भाई-के समान हैं। उन्हें आप प्राणदण्ड दिला रहे हैं, सो भी दो लाख रुपयोंके ऊपर! वे यदि देनेसे इन्कार करें तो भी कैसा करना उचित था! किन्तु वे तो देनेको तैयार हैं। उनके घोड़े आदि उचित मूल्यपर ले लिये जायँ, जो शेष रहेगा, उसे वे धीरे-धीरे देते रहेंगे।'

महाराजकी स्वयं इच्छा नहीं थी। महामन्त्रीकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छी बात है। मुझे इस बातका क्या पता! यदि वे रुपये देना चाहते हैं, तो उन्हें छोड़ दो। मुझे तो रुपयोंसे काम है उनके प्राण लेनेसे मुझे क्या लाभ!

महाराजकी ऐसी आज्ञा मिलते ही उन्होंने दरबारमें जाकर गोपी-नाथजीको सपरिवार मुक्त कर देनेकी आज्ञा लोगोंको सुना दी। इस आज्ञाको सुनते ही लोगोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। क्षणभरमें ही बहुत-से मनुष्य इस सुखद संवादको सुनानेके निमित्त प्रभुके पास पहुँचे और सभी एक स्वरसे कहने लगे—'प्रभुने गोपीनाथको चांगसे उतरवा दिया।'

प्रभुने कहा—'यह सब उनके पिताकी भक्तिका ही फल है। जगन्नाथ-जीने ही उन्हें इस विपत्तिसे बचाया है।'

लोगोंने कहा—'भवानन्दजी तो आपको ही सर्वस्व समझते हैं, और वे कह भी रहे हैं कि महाप्रभुकी ही कृपासे हम इस विपत्तिसे बच सके हैं।'

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'चांगके समीप खड़े हुए भवानन्दजीका उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये । अपने पुत्रको चांगपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष था न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे । दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे ! उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था ।'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है । उनकी भगवत्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका कोप कभी निष्फल नहीं जाता ।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे । उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है । प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि चांगपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे !'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे । राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे ।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रों-को विदा किया । उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे । प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमें जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेंगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं । रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी हैं ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी ठहरे, बिना रुपया चुराये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चांगपर चढावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'चागके समीप खड़े हुए भवानन्दजीका उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये । अपने पुत्रको चागपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष था न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे । दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे ! उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था ।'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है । उनकी भगवत्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता ।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे । उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है । प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि चांगपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे !'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे । राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे ।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रों-को विदा किया । उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे । प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमे जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं । रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी है ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी ठहरे, बिना रुपया चुराये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चांगपर चढावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रसंग छेड़ दिया कि महाप्रभु तो पुरी छोड़कर अब अलालनाथ जाना चाहते हैं।

पैरोंको पकड़े हुए सम्भ्रमके साथ महाराजने कहा—'क्यों, क्यों ? उन्हें यहाँ क्या कष्ट है ! जो भी कोई कष्ट हो उसे दूर कीजिये। मैं आपका सेवक सब प्रकारसे स्वयं उनकी सेवा करनेको उपस्थित हूँ।'

मिश्रजीने कहा—'उन्हें गोपीनाथवाली घटनासे बड़ा कष्ट हुआ है। वे कहते हैं, विषयियोंके संसर्गमें रहना ठीक नहीं है।'

महाराजने कहा—'श्रीमहाराज ! मैंने तो उन्हें धमकानेके लिये ऐसा किया था। वैसे भवानन्दजीके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। इस छोटी-सी बातके पीछे प्रभु पुरीको क्यों परित्याग कर रहे हैं। दो लाख रुपयोंकी कौन-सी बात है ! मैं रुपयोंको छोड़ दूँगा। आप जैसे भी बने तैसे प्रभुको यहीं रखिये।'

मिश्रजीने कहा—'रुपये छोड़नेको वे नहीं कहते। रुपयोंकी बात सुनकर तो उन्हें और अधिक दुःख होगा। वैसे ही वे इस झंझटसे दूर रहना चाहते हैं। कहते हैं—'रोज-रोज यही झगड़ा चलता रहेगा। गोपीनाथ फिर ऐसा ही करेगा।'

महाराजने कहा—'आप उन्हें रुपयोंकी बात कहें ही नहीं। गोपीनाथ तो अपना ही आदमी है। अब झगड़ा क्यों होगा ! मैं उसे समझा दूँगा, आप महाप्रभुको जाने न दें। जैसे भी रख सकें अनुनय-विनय और प्रार्थना करके उन्हें यहीं रखें।'

महाराजके चले जानेपर दूसरे दिन मिश्रजीने सभी बातें आकर प्रभुसे कहीं। सब बातोंको सुनकर प्रभु कहने लगे—'यह आपने क्या किया ! यह तो दो लाख रुपये आपने मुझे ही दिलवा दिये। इस राज-प्रतिग्रहको लेकर मैं उलटा पापके भागी बना।'

मिश्रजीने सभी बातें प्रभुको समझा दीं। महाराजके शील, स्वभाव, नम्रता और सद्‌गुणोंकी प्रशंसा की। प्रभु उनके भक्तिभावकी बातें सुनकर सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अलालनाथ जानेका विचार परित्याग कर दिया।

इधर महाराजने आकर गोपीनाथजीको बुलाया और उन्हें पुत्रकी भाँति समझाते हुए कहने लगे—'देखो, इस प्रकार व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। तुमने बिना पूछे इतने रुपये खर्च कर दिये इसलिये हमें क्रोध आ गया। जाओ, वे रुपये माफ किये। अब फिर ऐसा काम कभी भी न करना। यदि इतने वेतनसे तुम्हारा काम नहीं चलता है, तो हमसे कहना चाहिये था। अबतक तुमने यह बात हमसे कभी नहीं कही। आजसे हमने तुम्हारा वेतन भी दुगुना कर दिया।' इस प्रकार दो लाख रुपये माफ हो जानेपर और वेतन भी दुगुना हो जानेसे गोपीनाथजीको परम प्रसन्नता हुई। उसी समय वे आकर प्रभुके पैरोंमें पड़ गये और रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो! मुझे अब अपने चरणोंकी शरणमें लीजिये, अब मुझे इस विषय-जंजालसे छुड़ाइये।'

प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और फिर कभी ऐसा काम न करनेके लिये कहकर विदा किया।

जब महापुरुषोंकी तनिक-सी कृपा होनेपर गोपीनाथ सपरिवार सूलीसे बच गये, दो लाख रुपये माफ हो गये, वेतन दुगुना हो गया और पहलेसे भी अधिक राजाके प्रीतिभाजन बन गये, तब जो अनन्यभावसे महापुरुषोंके चरणोंकी सेवा करते हैं और उनके ऊपर जो महापुरुषोंकी कृपा होती है, उस कृपाके फलका तो कहना ही क्या? उस कृपासे तो फिर मनुष्यका इस संसारसे ही सम्बन्ध छूट जाता है। वह तो फिर सर्वतोभावेन प्रभुका ही हो जाता है। धन्य है ऐसी कृपालुताको!

श्रीशिवानन्द सेनकी सहनशीलता

न भवति भवति च न चिरं
भवति चिरं चेत् फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां
तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्॥*
(सु० र० भां० ४९। १०। १०७)

पहले तो महापुरुषोंको क्रोध होता ही नहीं है। यदि किसी विशेष कारणवश क्रोध हो भी जाय तो वह स्थायी नहीं रहता, क्षणभरमें ही शान्त हो जाता है। यदि कोई ऐसा ही भारी कारण आ उपस्थित हुआ और महापुरुषोंका कोप कुछ कालतक बना रहा तो उसका परिणाम सुखकारी ही होता है। महापुरुषोंका बड़ा भारी कोप और नीच पुरुषोंका अत्यधिक स्नेह दोनों बराबर ही हैं। बल्कि कुपुरुषोंके प्रेमसे सत्पुरुषोंका

---

* सज्जनोंको क्रोध और नीच पुरुषोंको स्नेह पहले तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो देरतक नहीं ठहरता, यदि देरतक रहा भी तो फल उलटा ही होता है। इस प्रकार सत्पुरुषोंका कोप नीच पुरुषोंके स्नेहके ही समान है।

क्रोध लाख दर्जे अच्छा है, किन्तु सत्पुरुषोंके क्रोधको सहन करनेकी शक्ति सब किसीमें नहीं होती है। कोई परम भाग्यवान् क्षमाशील भगवद्भक्त ही महापुरुषोंके क्रोधको बिना मनमें विकार लाये सहन करनेमें समर्थ होते हैं और इसीलिये वे संसारमें सुयशके भागी बनते हैं। क्योंकि शास्त्रोंमें मनुष्यका भूषण सुन्दर रूप बताया गया है, सुन्दर रूप भी तभी शोभा पाता है, जब उसके साथ सद्गुण भी हों। सद्गुणोंका भूषण ज्ञान है और ज्ञानका भूषण क्षमा है।* चाहे मनुष्य कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, उसमें कितने ही सद्गुण क्यों न हों, उसका रूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसमें क्षमा नहीं है, यदि वह लोगोंके द्वारा कही हुई कड़वी बातोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन नहीं कर सकता तो उसका रूप, ज्ञान और सभी प्रकारके सद्गुण व्यर्थ ही हैं। क्षमावान् तो कोई शिवानन्दजी सेनके समान लाखों-करोड़ोंमें एक-आध ही मिलेंगे। महात्मा शिवानन्दजी तो क्षमाके अवतार ही थे—इसे पाठक नीचेकी घटनासे समझ सकेंगे।

पाठकोंको यह तो पता ही है कि, गौड़ीय भक्त रथ-यात्राको उपलक्ष्य बनाकर प्रतिवर्ष ज्येष्ठके अन्तमें अपने स्त्री-बच्चोंके सहित श्री-जगन्नाथपुरीमें आते थे और बरसातके चार मास बिताकर अन्तमे अपने-अपने घरोंको लौट जाते थे। उन सबके लानेका, मार्गमें सभी प्रकारके प्रबन्ध करनेका भार प्रभुने शिवानन्दजीको ही सौंप दिया था। वे भी प्रतिवर्ष अपने पाससे हजारों रुपये व्यय करके बड़ी सावधानीके साथ भक्तोंको अपने साथ लाते थे। सबसे अधिक कठिनाई घाटोंपर उतरनेकी थी। एक-एक, दो-दो रुपये उतराई लेनेपर भी घाटवाले यात्रियोंको ठीक

* नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

समयपर नहीं उतारते थे। यद्यपि महाप्रभुके देशव्यापी प्रभावके कारण गौरभक्तोंको इतनी अधिक असुविधा नहीं होती थी फिर भी कोई-कोई खोटी बुद्धिवाला घटवारिया इनसे कुछ-न-कुछ अड़ंगा लगा ही देता था। ये बड़े सरल थे, सम्पूर्ण भक्तोंका भार इन्हींके ऊपर था, इसलिये घटवारिया, पहले-पहल इन्हें ही पकड़ते थे।

एक बार नीलाचल आते समय पुरीके पास ही किसी घटवारियाने शिवानन्द सेनजीको रोक रखा। वे भक्तोंके ठहरने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध न कर सके। क्योंकि घटवारियोंने उन्हें वहीं बैठा लिया था। इससे नित्यानन्दजीको उनके ऊपर बड़ा क्रोध आया। एक तो वे दिन-भरके भूखे थे, दूसरे रास्ता चलकर आये थे, तीसरे भक्तोंको निराश्रय भटकते देखनेसे उनका क्रोध उमड़ पड़ा। वे सेन महाशयको भली-बुरी बातें सुनाने लगे, उसी क्रोधके आवेशमें आकर उन्होंने यहाँतक कह डाला कि 'इस शिवानन्दके तीनों पुत्र मर जायँ, इसकी धन-सम्पत्ति नाश हो जाय, इसने हमारे तथा भक्तोंके रहने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया।' नित्यानन्दजीके क्रोधमें दिये हुए ऐसे अभिशापको सुनकर सेन महाशयकी पत्नीको अत्यन्त ही दुःख हुआ, वे फूट-फूटकर रोने लगीं। जब बहुत रात्रि बीतनेपर घाटवालोंसे जैसे-तैसे पिण्ड छुड़ाकर शिवानन्द-जी अपने बाल-बच्चोंके समीप आये तब उनकी धर्मपत्नीने रोते-रोते कहा—'गुसाईंने क्रुद्ध होकर हमें ऐसा भयङ्कर शाप दे दिया है। हमने उनका ऐसा क्या बिगाड़ा था? अब भी वे क्रुद्ध हो रहे हैं, आप उनके पास न जायँ।'

शिवानन्दजीने दृढ़ताके साथ पत्नीकी बातकी अवहेलना करते हुए कहा—'पगली कहींकी! तू उन महापुरुषकी महिमा क्या जाने? मेरे तीनों पुत्र चाहे अभी मर जायँ और धन-सम्पत्तिकी तो मुझे कुछ परवा नहीं। वह तो सब गुसाईंकी ही है, वे चाहें तो आज ही सबको छीन लें। मैं

अभी उनके पास जाऊँगा और उनके चरण पकड़कर उन्हें शान्त करूँगा।' यह कहते हुए वे नित्यानन्दजीके समीप चले। उस समय भी नित्यानन्दजीका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। वृद्ध शिवानन्दजीको अपनी ओर आते देखकर उनकी पीठमें उठकर एक जोरोंसे लात मारी। सेन महाशयने कुछ भी नहीं कहा। उसी समय उनके ठहरने और खाने-पीनेकी समुचित व्यवस्था करके हाथ जोड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हुआ, जिन चरणोंकी रजके लिये इन्द्रादि देवता भी तरसते हैं वही चरण आपने मेरी पीठसे छुआये। मैं सचमुच कृतार्थ हो गया। गुसाईं! अज्ञानके कारण मेरा जो अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करें। मैं अपनी मूर्खतावश आपको क्रुद्ध करनेका कारण बना—इस अपराधके लिये मैं लज्जित हूँ। प्रभो! मुझे अपना सेवक समझकर मेरे समस्त अपराधोंको क्षमा करें और मुझपर प्रसन्न हों।'

शिवानन्दजीकी इतनी सहनशीलता, ऐसी क्षमा और ऐसी एकान्त निष्ठाको देखकर नित्यानन्दजीका हृदय भर आया। उन्होंने जल्दीसे उठकर शिवानन्दजीको गलेसे लगाया और उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—'शिवानन्द! तुम्हीं सचमुच प्रभुके परम कृपापात्र बननेयोग्य हो। जिसमें इतनी अधिक क्षमा है वह प्रभुका अवश्य ही अन्तरङ्ग भक्त बन सकता है।' सचमुच नित्यानन्दजीका यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ और प्रभुने सेन महाशयके ऊपर अपार कृपा प्रदर्शित की। प्रभुने अपने उच्छिष्ट महाप्रसादको शिवानन्दजीके सम्पूर्ण परिवारके लिये भिजवानेकी गोविन्दको स्वयं आज्ञा दी। इनकी ऐसी ही तपस्याके परिणामस्वरूप तीन कवि कर्णपूर-जैसे परम प्रतिभावान् महाकवि और भक्त इनके यहाँ पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए।

नित्यानन्दजीका ऐसा बर्ताव शिवानन्दजी सेनके भगिनी-पुत्र श्रीकान्तको बहुत ही अरुचिकर प्रतीत हुआ। वह युवक था, शरीरमें

युवावस्थाका नूतन रक्त प्रवाहित हो रहा था, इस बातसे उसने अपने मामाका घोर अपमान समझा और इसकी शिकायत करनेके निमित्त वह सभी भक्तोंसे अलग होकर सबसे पहले प्रभुके समीप पहुँचा। बिना वस्त्र उतारे ही वह प्रभुको प्रणाम करने लगा। इसपर गोविन्दने कहा—'श्रीकान्त! तुम यह शिष्टाचारके विरुद्ध बर्ताव क्यों कर रहे हो? अंगरखेको उतारकर तब साष्टाङ्ग प्रणाम किया जाता है। पहले वस्त्रोंको उतार लो, रास्तेकी थकान मिटा लो, हाथ-मुँह धो लो, तब प्रभुके सम्मुख प्रणाम करने जाना।' किन्तु उसने गोविन्दकी बात नहीं सुनी। प्रभु भी समझ गये, अवश्य ही कुछ दालमें काला है, इसलिये उन्होंने गोविन्दसे कह दिया—'श्रीकान्तके लिये क्या शिष्टाचार और नियम, वह जो करता है ठीक ही है, इसे तुम मत रोको। इसी दशामें इसे बातें करने दो।' इतना कहकर प्रभु उससे भक्तोंके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें पूछने लगे। पुराने भक्तोंकी बात पूछकर प्रभुने नवीन भक्तोंके सम्बन्धमें पूछा कि अबके बालभक्तोंमेंसे कौन-कौन आया है? प्रभुके पीछे जो बच्चे उत्पन्न हुए थे, वे भी अबके अपनी-अपनी माताओंके साथ प्रभुके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे आ रहे थे। श्रीकान्तने सभी बच्चोंका परिचय देते हुए शिवानन्दजीके पुत्र परमानन्ददासका भी परिचय दिया और उसकी प्रखर प्रतिभा तथा प्रभुदर्शनोंकी उत्कण्ठाकी भी प्रशंसा की। प्रभु उस बच्चेको देखनेके लिये लालायित-से प्रतीत होने लगे। इन सभी बातोंमें श्रीकान्त नित्यानन्दजीकी शिकायत करना भूल ही गये। इतनेमें ही सभी भक्त आ उपस्थित हुए। प्रभुने सदाकी भाँति उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन्हें रहनेके लिये यथायोग्य स्थान दिलाकर सभीके प्रसादकी व्यवस्था करायी।

पुरीदास या कवि कर्णपूर

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥*

(भर्तृहरि० नीति० २४)

कविता एक भगवद्दत्त वस्तु है। जिसके हृदयमें कमनीय कविता करनेकी कला विद्यमान है उसके लिये फिर राज्यसुखकी क्या अपेक्षा? इन्द्रासन उसके लिये तुच्छ है। कविता गणितकी तरह अभ्यास करनेसे नहीं आती, वह तो अलौकिक प्रतिभा है, किसी भाग्यवान् पुरुषको ही पूर्वजन्मोंके पुण्योंके फलस्वरूप प्राप्त हो सकती है। कवि क्या नहीं कर सकता? जिसे चाहे अमर बना सकता है। जिसे चाहे पातालमें पहुँचा सकता है। भोज, विक्रम-जैसे अरबों-खरबों नहीं असंख्यों राजा हो गये, उनका कोई नाम क्यों नहीं जानता—इसलिये कि वे कालिदास-जैसे कविकुलचूडामणि महापुरुषके श्रद्धाभाजन नहीं बन सके। थोड़ी देरके लिये भगवान् रामकृष्णके अवतारीपनेकी बातको छोड़ दीजिये। सामान्य-दृष्टिसे वे केवल अपने प्रचण्ड दोर्दण्डबलके कारण बली नहीं बन सके।

---

* उन परमपुण्यवान् रससिद्ध कवीश्वरोंकी जय हो, जिनके यशरूपी शरीरको अवश्य प्राप्त होनेवाले बुढापे तथा मरणका भय नहीं है। अर्थात कवियोंका यथार्थ शरीर उनका सुयश ही है। उनका सुयश सदा अमर बना रहता है। उसका नाश कभी नहीं होता।

वाल्मीकि और व्यासने उन्हें बली और वीर बनाया। तभी तो मैं कहता हूँ, कवि ईश्वर है, अचतुर्भुज विष्णु है, एक मुखवाला ब्रह्मा है और दो नेत्रवाला शिव है। कवि वन्द्य है, पूज्य है, आदरणीय और सम्माननीय है। कविके चरणोंकी वन्दना करना ईश्वरकी वन्दनाके समान है। कवितारूपसे श्रीहरि ही उसके मुखसे भाषण करते हैं, जिसे सुनकर सुकृति और भाग्यवान् पुरुषोंका मनमयूर पंख फैलाकर नृत्य करने लगता है और नृत्य करते-करते अश्रुविमोचन करता है। उन अश्रुओंको बुद्धिरूपी मयूरी पान करती है और उन्हीं अश्रुओंसे आह्लादरूपी गर्भको धारण करती है, जिससे आनन्दरूपी पुत्रकी उत्पत्ति होती है। वे पिता धन्य हैं जिनके घरमें प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न होते हैं। ऐसा सौभाग्य श्रीशिवानन्द सेन-जैसे सुकृति, साधुसेवी और भगवद्भक्त पुरुषोंको ही प्राप्त हो सकता है जिनके कवि कर्णपूर-जैसे नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न कवि पुत्र उत्पन्न हुए। कविताका कोई निश्चय नहीं, वह कब परिस्फुट हो उठे। किसी-किसीमें तो जन्म-से ही वह शक्ति विद्यमान रहती है, जहाँ ये बोलने लगते हैं वहीं उनकी प्रतिभा फूटने लगती है। कवि कर्णपूर ऐसे ही स्वाभाविक कवि थे।

महाप्रभु जब संन्यास ग्रहण करके पुरीमें विराजमान थे, तब बहुत-से भक्तोंकी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंके साथ प्रभुदर्शनोंकी लालसासे पुरी जाया करती थीं। एक बार जब शिवानन्द सेनजी अपनी पत्नीके साथ भक्तोंको लेकर पुरी पधारे तब श्रीमती सेन गर्भवती थीं। प्रभुने आज्ञा दी कि अबके जो पुत्र हो, उसका नाम पुरी गोस्वामीके नामपर रखना। प्रभुभक्त सेन महाशयने ऐसा ही किया, जब उनके पुत्र हुआ तो उसका नाम रखा परमानन्ददास। परमानन्ददास जब बड़े हुए तब

वे प्रभुदर्शनोंके लिये अपनी उत्कण्ठा प्रकट करने लगे। इनकी प्रभु-परायणा माताने बाल्यकालसे ही इन्हें गौर-चरित्र रटा दिये थे और सभी गौर-भक्तोंके नाम कण्ठस्थ करा दिये थे। इनके पिता प्रतिवर्ष हजारों रुपये अपने पाससे खर्च करके भक्तोंको पुरी ले जाया करते थे और मार्गमें उनकी सभी प्रकारकी व्यवस्था स्वयं करते थे। इनका घरभर श्रीचैतन्यचरणों-का सेवक था। इनके तीन पुत्र थे—बड़े चैतन्यदास, मँझले रामदास और सबसे छोटे थे परमानन्ददास, पुरीदास या कर्णपूर थे। परमानन्ददास बालकपनसे ही होनहार, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति और सरस हृदयके थे। इनके बहुत आग्रहपर वे इन्हें इनकी माताके सहित प्रभुके पास ले गये। वैसे तो प्रभुने इन्हें देख लिया था, किन्तु सेन इन्हें एकान्तमें प्रभुके पैरोंमें डालना चाहते थे। एक दिन जब महाप्रभु स्वरूप गोस्वामी आदि दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंके सहित एकान्तमें बैठे श्रीकृष्णकथा कह रहे थे तभी सेन महाशय अपने पुत्र परमानन्दपुरीको प्रभुके पास लेकर पहुँच गये। सेनने इन्हें प्रभुके पैरोंमें लिटा दिया, ये प्रभुके पैरोंमें लेटे-ही-लेटे उनके अँगूठेको चूसने लगे, मानो वे प्रभुपादपद्मोंकी मधुरिमाको पी रहे हों। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा—'इसका नाम क्या रखा है?'

धीरेसे सेन महाशयने कहा—'परमानन्ददास!'

प्रभुने कहा—'यह तो बड़ा लम्बा नाम हो गया, किसीसे लिया भी कठिनतासे जायगा। इसलिये पुरीदास ठीक है।' यह कहकर वे बच्चेके सिरपर हाथ फेरते हुए प्रेमसे कहने लगे—'क्यों रे पुरीदास! ठीक है न तेरा नाम? तू पुरीदास ही है न?' बस उस दिनसे ये परमानन्ददास-की जगह पुरीदास हो गये।

एक बार सेन इन्हें फिर लेकर प्रभुके दर्शनोंको आये। तब प्रभुने इन्हें पुचकारकर कहा—'बेटा पुरीदास! अच्छा, कृष्ण-कृष्ण कहो।' किन्तु

पुरीदासने कुछ भी नहीं कहा। तब तो प्रभु बहुत आश्चर्यमें रह गये। पिता भी कह-कहकर हार गये। प्रभुने भी पुचकारकर, पुचकारकर कई बार कहा, किन्तु इन्होंने कृष्ण-कृष्ण ही न कहा। तब तो पिताको इस बातसे बड़ा दुःख हुआ कि हमारा यह पुत्र अभक्त होगा क्या, अभक्त पुत्रसे तो बिना पुत्रके ही रहना अच्छा। प्रभु भी आश्चर्य करने लगे कि हमने जगत्‌से श्रीकृष्ण नाम लिवाया, इस छोटे-से बालकसे श्रीकृष्ण नहीं कहला सके। इसपर स्वरूप गोस्वामीने कहा—'यह बालक बड़ा ही बुद्धिमान् है, इसने समझा है कि प्रभुने हमें मन्त्र प्रदान किया है। इसलिये अपने इष्ट मन्त्रको मन-ही-मन जप रहा है। मन्त्र किसीके सामने प्रकट थोड़े ही किया जाता है।' इस बातसे सभीको सन्तोष हुआ।

एक दिन जब इनकी अवस्था केवल सात ही वर्षकी थी तब सेन महाशय इन्हें प्रभुके समीप ले गये। प्रभुने पूछा—'कुछ पढ़ता भी है यह?'

सेनने धीरेसे कहा—'अभी क्या पढ़ने लायक है, ऐसे ही थोड़ा-बहुत कुछ खेल करता रहता है।'

प्रभुने कहा—'पुरीदास, अच्छा बेटा! कुछ सुनाओ तो सही।'

इतना सुनते ही सात वर्षका बालक स्वयं ही इस स्वरचित श्लोकको बोलने लगा—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥*

---

* जो वृन्दावनकी रमणियोंके कानोंके नील कमल, आँखोंके अञ्जन, वक्षःस्थलकी इन्द्रनीलमणि एवं समस्त आभरणरूप हैं उन भगवान् हरिकी जय हो।

सात वर्षके बालकके मुखसे ऐसा भावपूर्ण श्लोक सुनकर सभी उपस्थित भक्तोंको परमाश्चर्य हुआ। इसे सभीने प्रभुकी पूर्णकृपाका फल ही समझा। तब प्रभुने कहा—'तैंने सबसे पहले अपने श्लोकमें व्रजाङ्गनाओंके कानोंके आभूषणका वर्णन किया है, अतः तू कवि होगा और 'कर्णपूर'के नामसे तेरी ख्याति होगी।' तभीसे ये 'कवि कर्णपूर' हुए।

ये महाप्रभुके भावोंको भलीभाँति समझते थे। सच्चे सुकविसे भला किसके मनोभाव छिपे रह सकते हैं? ये सुकवि थे। इन्होंने अपनी अधिकांश कविता श्रीचैतन्यदेवके ही सम्बन्धमें की है। इनके बनाये हुए आनन्द-वृन्दावन (चम्पू), अलङ्कारकौस्तुभ (अलङ्कार), श्रीचैतन्य-चरित (काव्य), श्रीचैतन्यचन्द्रोदय (नाटक) और गौरगनोद्देशदीपिका प्रभृति ग्रन्थ मिलते हैं। इनका चैतन्य-चरित महाकाव्य बड़ा ही सुन्दर है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटककी भी खूब ख्याति है। 'गौरगनोद्देशदीपिका' में इन्होंने श्रीकृष्णकी लीला और श्रीचैतन्यकी लीलाओंको समान मानते हुए यह बताया है कि गौर-भक्तोंमेंसे कौन-कौन भक्त श्रीकृष्णलीलाकी किस-किस सखीके अवतार थे। इसमें रूप, सनातन, रघुनाथदास आदि सभी गौर-भक्तोंको भिन्न-भिन्न सखियोंका अवतार बताया गया है। बड़ी विशाल कल्पना है, कविप्रतिभा ही जो ठहरी, जिस ओर लग गयी उसी ओर कमाल करके दिखा दिया। अपने पिताके सम्बन्धमें ये लिखते हैं—

पुरा वृन्दावने वीरा दूती सर्वाश्च गोपिकाः।
निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम॥

अर्थात् 'पहले श्रीकृष्णलीलामें वीरा नामकी दूती जो सभी गोपिकाओंको श्रीकृष्णके पास ले जाया करती थी। उसी वीरा दूतीके अवतार मेरे पिता (श्रीशिवानन्द सेन) हैं।' इसी प्रकार सभीके सम्बन्धकी

इन्होंने बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं। धन्य है ऐसे कविको और धन्य है उनके कमनीय काव्यामृतको जिसका पान करके आज भी गौर-भक्त उसी चैतन्यरूपी आनन्दसागरमें किलोलें करते हुए परमानन्दसुखका अनुभव करते हैं। अक्षरोंको जोड़नेवाले कवि तो बहुत हैं, किन्तु सत्-कवि वही है, जिसकी सभी लोग प्रशंसा करें। सभी जिसके काव्यामृतको पान करके लट्टू हो जायँ। एक कविने कविके सम्बन्धमें एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है—

सत्यं सन्ति गृहे गृहेऽपि कवयो येषां वचश्चातुरी
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते स्वल्पैर्गुणैर्गौरवम्।
दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदमतिर्यद्वाग्प्रसग्राहिणां
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा॥

'वैसे तो बोलने-चालने और बातें बनानेमें जो औरोंकी अपेक्षा कुछ व्युत्पन्नमतिके होते हैं ऐसे कवि कहलानेवाले महानुभाव घर-घर मौजूद हैं। अपने परिवारमें जो लड़की थोड़ी भी सुन्दरी और गुणवती होती है, उसीकी कुलवाले बहुत प्रशंसा करने लगते हैं। क्योंकि उसके लिये उतना बड़ा परिवार ही संसार है। ऐसे अपने ही घरमें कवि कहलानेवाले सज्जनोंकी गणना सुकवियोंमें थोड़े ही हो सकती है। सच्चा सुकवि तो वही है जिसकी कमनीय कविता अज्ञात कुलगोत्रवाले कलाकोविदोंके मनको भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर ले। उनकी वाणी सुनते ही उनके मुखोंसे वाह-वाह निकल पड़े। जैसे कलाकलापमें कुशल वाराङ्गनाके कुलगोत्रको न जाननेवाले पुरुष भी उसके गायन और कलासे मुग्ध होकर स्वयं ही उसकी ओर खिंच-से जाते हैं।'

ऐसे सुकवियोंके चरणोंमे हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।

विवेचन तो कर लेते हैं, किन्तु महापुरुषोंके दोषोंके ऊपर ध्यान नहीं देते, वे अवगुणोंकी उपेक्षा करके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, हृदयसे उनके गुणोंके प्रति तो श्रद्धाके भाव रखते हैं, किन्तु जहाँ उन्हें कोई मर्यादाके विरुद्ध कार्य करते देखते हैं वहाँ उनकी आलोचना भी करते हैं और उन्हें उस दोषसे पृथक् रखनेके लिये प्रयत्नशील भी होते हैं। कुछ ऐसे भी भक्त या कुभक्त होते हैं जो महापुरुषके प्रभावको देखकर मन-ही-मन दाह करते हैं और उनके कामोंमें सदा छिद्रान्वेषण ही करते रहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्त तो महापुरुषोंसे यथाशक्ति लाभ उठाते हैं, किन्तु ये चौथे निन्दक महाशय अपना नाश करके महापुरुषका कल्याण करते हैं, अपनी नीचताके द्वारा महापुरुषोंकी सद्वृत्तियोंको उभाड़कर उन्हें लोगोंके सम्मुख रखते हैं। उनके बराबर परोपकारी संसारमें कौन हो सकता है, जो अपना सर्वस्व नाश करके लोककल्याणके निमित्त महापुरुषोंके द्वारा क्षमा और सहनशीलताका आदर्श उपस्थित कराते हैं।

महाप्रभुके दरबारमें पहले और दूसरे प्रकारके भक्तोंकी ही संख्या अधिक थी। प्रायः उनके सभी भक्त उन्हें 'सचल जगन्नाथ' 'संन्यास-वेषधारी पुरुषोत्तम' मानकर भगवद्बुद्धिसे उनकी सेवा-पूजा किया करते थे, किन्तु आलोचक और निन्दकोंका एकदम अभाव ही हो, सो बात नहीं थी। उनके बहुत-से आलोचक भी थे, किन्तु प्रभु उनकी बातें ही नहीं सुनते थे। कोई भूलमें आकर उनसे कह भी देता, तो वे उसे उस बातके सुनानेसे एकदम रोक देते थे। यह तो बाहरके लोगोंकी बात रही, उनके अन्तरङ्ग भक्तों तथा साथियोंमें भी ऐसे थे, जो खरी कहनेके लिये प्रभुके सामने भी नहीं चूकते थे, किन्तु उनका भाव शुद्ध था। एक त्यागाभिमानी रामचन्द्रपुरी नामके उनके घोर निन्दक संन्यासी भी

थे, किन्तु प्रभुकी अलौकिक क्षमाके सामने उन्हें अन्तमें पुरीको ही छोड़कर जाना पड़ा। पहले दामोदर पण्डितकी आलोचनाकी एक घटना सुनिये।

महाप्रभु श्रीमन्दिरके समीप ही रहते थे। वहीं कहीं पासमें ही एक उड़िया ब्राह्मणीका घर था। वह ब्राह्मणी विधवा थी, उसका एक तेरह-चौदह वर्षका लड़का प्रभुके पास आया करता था। उस लड़केका सौन्दर्य अपूर्व ही था। उसके शरीरका रंग तप्त काञ्चनके समान बड़ा ही सुन्दर था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी सुडौल-सुन्दर थे। शरीरमें स्वाभाविक बालचापल्य था। अपनी दोनों बड़ी-बड़ी सुहावनी आँखोंसे वह जिस पुरुषकी भी ओर देख लेता वही उसे प्यार करने लगता। वह प्रभुको प्रणाम करनेके लिये नित्यप्रति आता। प्रभु उससे अत्यधिक स्नेह करने लगे। उसे पासमें बिठाकर उससे प्रेमकी मीठी-मीठी बातें पूछते, कभी-कभी उसे प्रसाद भी दे देते। बच्चोंका हृदय तो बड़ा ही सरल और सरस होता है, उनसे जो भी प्रेमसे बोले वे उसीके हो जाते हैं। प्रभुके प्रेमके कारण उस बच्चेका ऐसा हाल हो गया कि उसे प्रभुके दर्शनोंके बिना चैन ही नहीं पड़ता था। दिनमें दो-दो, तीन-तीन बार वह प्रभुके पास आने लगा।

दामोदर पण्डित प्रभुके पास ही रहते थे। उन्हें उस अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त अल्पवयस्क बच्चेका प्रभुके पास इस प्रकारसे आना बहुत ही बुरा लगने लगा। वे एकान्तमें बच्चेको डाँट भी देते और उसे वहाँ आनेको निषेध भी कर देते, किन्तु हृदयका सच्चा प्रेम किसकी परवा करता है। अत्यन्त स्नेह मनुष्यको ढीठ भी बना देता है। मना करनेपर भी वह बच्चा बिना किसीकी बात सुने निर्भय प्रभुके पास चला जाता और वहाँ उनके पास बैठा रहता। उसी भावमें उससे मीठी-मीठी बातें किया करते।

मनुष्यके स्वभावमें एक प्रकारकी क्रूरता होती है। जब हम किसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझते हैं और उसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझने-वाला कोई दूसरा पुरुष भी हो जाता है तो हम मन-ही-मन उससे डाह करने लगते हैं, फिर चाहे वह कितना भी सर्वगुणसम्पन्न क्यों न हो, हमें वह राक्षस-सा प्रतीत होता है। दामोदर पण्डितका भी यही हाल था। उन्हें उस विधवाके सुन्दर पुत्रकी क्रूरतसे घृणा थी, उसके नामसे चिढ़ थी, उसे देखते ही वे जल उठते। एक दिन उन्होंने उस लड़केको प्रभुके पास बैठा देखा। प्रभु उससे हँस-हँसकर बातें कर रहे थे। उस समय तो उन्होंने प्रभुसे कुछ नहीं कहा। जब वह लड़का उठकर चला गया तो उन्होंने कुछ प्रेमपूर्वक रोषके स्वरमें कहा—'प्रभो! आप दूसरोंको ही उपदेश देनेके लिये हैं, अपने लिये नहीं सोचते कि हमारे आचरणको देखकर कोई क्या समझेगा?'

प्रभुने सम्भ्रमके साथ कहा—'क्यों, क्यों, पण्डितजी! मैंने ऐसा कौन-सा पापकर्म कर डाला?'

उसी प्रकार रोषके साथ दामोदर पण्डितने कहा—'मुझे इस लड़केका आपके पास इस प्रकार निस्संकोचभावसे आना अच्छा प्रतीत नहीं होता। आपको पता नहीं, लोग क्या मनमें सोचेंगे? संसारी लोग विचित्र होते हैं, अभी तो सब गुसाईं-गुसाईं कहते हैं। आपके इस आचरणसे सभी आपकी निन्दा करने लगेंगे और तब सब ईश्वरपना भूल जायँगे।'

प्रभुने सरलतापूर्वक कहा—'दामोदर! इस लड़केमें तो मुझे कोई भी दोष नहीं दीखता; बड़ा सरल, भोला-भाला और गौके बछड़ेके समान सीधा है।'

दामोदर पण्डितने कहा—'आपको पता नहीं, यह विधवाका पुत्र है, इसकी माता अभी युवती है, वैसे वह बड़ी तपस्विनी, सदाचारिणी तथा भगवत्परायणा है, फिर भी उसमें तीन दोष हैं। वह युवती है, अत्यधिक सुन्दरी है और विधवा तथा अपने घरमें अकेली ही है, आप अभी युवक हैं, अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त हैं। हम तो आपके मनोभावोंको समझते हैं, किन्तु लोक किसीको नहीं छोड़ता। वह जरा-सा छिद्र पाते ही निन्दा करने लगता है। लोगोंके मुखोंको हम थोड़े ही पकड़ लेंगे। इतने दिनकी जमी हुई प्रतिष्ठा सभी धूलमें मिल जायगी।'

दामोदर पण्डितकी बातोंसे प्रभुको हृदयमें सन्तोष हुआ कि इन्हें मेरी पवित्रताका इतना अधिक ध्यान रहता है, किन्तु उनके भोलेपनपर उन्हें हँसी भी आयी। उस समय तो उन्होंने उनसे कुछ भी नहीं कहा। दूसरे दिन एकान्तमें बुलाकर कहने लगे—'दामोदर पण्डित! मैं समझता हूँ, तुम्हारा नवद्वीपमें ही रहना ठीक होगा, वहाँ तुम्हारे भयसे भक्तवृन्द मर्यादाके विरुद्ध आचरण न कर सकेंगे और तुम माताजीकी भी देख-रेख करते रहोगे। वहीं जाकर माताके समीप रहो और बीचमें मुझे देखनेके लिये यहाँ आ जाया करना। माताजीके चरणोंमें मेरा प्रणाम कहना और उन्हें समझा देना कि मैं सदा उनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको खानेके लिये नवद्वीपमें आता हूँ और प्रत्यक्षरीतिसे भगवान्‌के भोग लगाये हुए नैवेद्यको पाता हूँ।' इतना कहकर और जगन्नाथजीका प्रसाद देकर उन्हें नवद्वीपको विदा किया। वे नवद्वीपमें आकर शचीमाताके समीप रहने लगे, उनके भयसे नवद्वीपके भक्त कोई भी मर्यादाके विरुद्ध कार्य नहीं करते थे। इनकी आलोचना बड़ी ही खरी तथा तीव्र होती थी।

निन्दकके प्रति भी सम्मानके भाव

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥*

(सु० र० भां० ८७। १)

महात्मा दादूदयालजीने निन्दा करनेवालेको अपना पीर—गुरु बताकर उसकी खूब स्तुति की है। जिन पाठशालाओंमें परीक्षक होते हैं और वे सदा परीक्षा ही लेते रहते हैं, उसी प्रकार इन निन्दकोंको भी समझना चाहिये। परीक्षक उन्हीं छात्रोंकी परीक्षा करते हैं, जो विद्वान् बननेकी इच्छासे पाठशालामें पढ़नेके निमित्त प्रवेश करते हैं। जो बालक पढ़ता ही

---

* जिसके हाथमें क्षमारूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन लोग क्या बिगाड़ सकते हैं? जहाँ तिनके ही न हों, वहाँ यदि अग्नि गिर भी पड़े तो थोड़ी देरमें आप-से-आप ही शान्त हो जायगी।

नहीं, जो जानवरोंकी तरह पैदा होते ही खाने-पीनेकी चिन्तामें लग जाता है उसकी परीक्षक परीक्षा ही क्या करेगा ! वह तो निरक्षरताकी परीक्षामें पहले ही उत्तीर्ण हो चुका है। इसी प्रकार निन्दक लोग उन्हींकी निन्दा करते हैं जो इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति करना चाहते हैं, जो श्रेष्ठ बननेकी इच्छासे उन्नतिकी पाठशालामें प्रवेश करते हैं। जिसके जीवनमें कोई विशेषता ही नहीं, जो आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि धर्मोंमें अन्य प्राणियोंके समान व्यवहार करता है उसकी निन्दा-स्तुति दोनों समान हैं।

इहलौकिक उन्नतिमें निन्दा चाहे कुछ विघ्न भी कर सके, किन्तु पारलौकिक उन्नतिमें तो निन्दा सहायता ही करती है। निन्दाके दो भेद हैं—एक तो अपवाद, दूसरा प्रवाद। बुरे काम करनेपर जो निन्दा होती है उसे अपवाद कहते हैं। उससे बचनेकी सभीको जी-जानसे कोशिश करनी चाहिये, किन्तु कोई निन्दित कर्म किया तो है नहीं और वैसे ही लोग डाहसे, द्वेषसे या भ्रमसे निन्दा करने लगे हैं उसे प्रवाद कहते हैं। उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर होनेवाले व्यक्तिको प्रवादकी परवा न करनी चाहिये। प्रवाद ही उन्नतिके कण्टकाकीर्ण शिखरपर चढ़ानेके लिये सहारेकी लाठीका काम देता है। जो लोकरञ्जनके लिये प्रवादकी भी परवा करके उसकी अयथार्थता लोगोंपर प्रकट करते हैं वे तो ईश्वर हैं। ईश्वरोंके तो वचनोंको ही सत्य मानना चाहिये, उनके आचरणोंकी सर्वत्र नकल न करनी चाहिये। धोबीके प्रवादपर निष्कलङ्क और पतिपरायणा सती-साध्वी जगन्माता सीताजीको श्रीरामचन्द्रजीने त्याग दिया। लोगोंके दोष लगानेपर भगवान् स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गये। ये कार्य उन्हीं अवतारी पुरुषोंको शोभा देते हैं। हम साधारण कोटिके जीव यदि इस प्रकारके प्रवादोंकी परवा करें तब तो हमलोगोंको पैर रखनेकी जगह भी न मिलेगी, क्योंकि जगत् प्रवादप्रिय है, इसे दूसरोंकी

झूठी निन्दा करनेमें मजा मिलता है। ऐसे ही एक निन्दक महाशय स्वामी रामचन्द्रपुरी प्रभुके समीप कुछ काल रहे थे, उनका वृत्तान्त सुनिये।

भगवान् माधवेन्द्रपुरी श्रीशङ्कराचार्यके दस नामी संन्यासियोंमें होनेपर भी भक्तिभावके उपासक थे। वे व्रजविहारीको ही सविशेष, निर्विशेष, साकार-निराकार तथा देशकाल और कार्यकारणसे पृथक् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समझते थे। वे निर्विशेष ब्रह्मकी निन्दा नहीं करते थे। उनका कथन था—'भाई! जिन्हें निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मके ध्यानसे आनन्द आता हो, वे भले ही ध्यान और अभ्यासके द्वारा उस निराकार ब्रह्मका ध्यान करें, किन्तु हमारा मन तो उस यमुनाके पुलिनोंपर गौओंके पीछे दौड़नेवाले किसी श्यामरंगके छोकरेने हर लिया है। हमारी आँखों-में तो वही गड़ गया है। उसके सिवा हमें दूसरा रूप भाता ही नहीं, विश्व हमें नीला-ही-नीला दीखता है।'*

ये रामचन्द्रपुरीजी भी उन्हीं भगवान् माधवेन्द्रपुरीके शिष्य थे। उनके शिष्योंमें परमानन्दपुरी, रङ्गपुरी, रामचन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी आदिके नाम मिलते हैं। इन सबमें ईश्वरपुरी ही अपने गुरुमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे और उनकी छोटी-से-छोटी सेवा अपने ही हाथोंसे करते थे, इसीलिये इनपर गुरु महाराजका प्रसाद सबसे अधिक हुआ और उसीके फलस्वरूप इन्हें गौराङ्ग महाप्रभुके विख्यात पद प्राप्त हो सका। ये रामचन्द्र तबीयतके और गुरुनिन्दक थे। जब भ